सेक्सरिया अध्ययन माला—२

भारतीय संस्कृति
में
आर्येतरांश

लेखक

शिवशेखर मिश्र

एम० ए० (अँग्रेजी), एम० ए० (भारतीय संस्कृति)
एम० ए० (संस्कृत)

प्राच्य विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति
में
आर्येतरांश

Thesis Submitted for the M. A. Pt. II Examination in Sanskrit Culture, 1950

लेखक
शिवशेखर मिश्र
एम० ए० (अँग्रेजी), एम० ए० (भारतीय संस्कृति)
एम० ए० (संस्कृत)

प्राच्य विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

समर्पण

स्वर्गीय पिता श्रद्धेय

पंडित अवध बिहारीलाल जी मिश्र

की

पुण्य स्मृति को

सादर एवं सप्रेम

सेकसरिया-अध्ययनमाला—२

वक्तव्य

हिन्दी विभाग के द्वारा साहित्यिक और सांस्कृतिक खोज-सम्बन्धी कार्य "लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन" के रूप में हम प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थ माला" के कई पुष्पों से साहित्यिक विद्वान पहले ही परिचित हैं। इसके अन्तर्गत उच्चकोटि के गवेषणापूर्ण बृहदाकार ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। ये ग्रन्थ प्राय: हिन्दी विभाग के अध्यापकों अथवा विद्यार्थियों के द्वारा 'पी० एच० डी०' डिग्री के लिए प्रस्तुत किये गये प्रबंध हैं। परन्तु हमारे यहां एम० ए० की परीक्षा के अन्तर्गत लिखे गये कुछ छोटे प्रबंध भी हैं जो एक बड़ी संख्या में हैं और प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। इन छोटे-छोटे अध्ययनों को प्रकाशित करने के विचार से ही विश्व-विद्यालय में एक "सेकसरिया अध्ययन माला" का सूत्रपात किया गया है।

हम श्री शुभकरण जी सेकसरिया के परम आभारी हैं जिन्होंने अपने स्वर्गीय पिता श्री भोलाराम सेकसरिया के नाम पर इन दोनों ग्रन्थ मालाओं के लिए निधि प्रदान की है और उसी के बल पर ही हम इन मालाओं में सूत्र संचालन कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय संस्कृति में आर्येतर अंश' इस 'विद्यार्थी अध्ययन-माला' का द्वितीय पुष्प है। इसके लेखक श्री शिवशेखर मिश्र, एम० ए० संस्कृत-विभाग के अध्यापक हैं जिनके द्वारा यह पुस्तक एम० एम० थीसिस के रूप में लिखी गयी थी। यद्यपि शिवशेखर जी का सम्बन्ध विद्यार्थी या अध्यापक रूप में हिन्दी विभाग से नहीं है, परन्तु हिन्दी काव्य और साहित्य से इनका बड़ा अनुराग है। 'भारतीय संस्कृति में आर्येतर अंश' लिखने में इन्होंने बड़ा परिश्रम किया है और इनका यह अध्ययन अत्यन्त रोचक और प्रेरक है। इससे साहित्य और संस्कृति के अध्येताओं का बड़ा लाभ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मुझे आशा है कि मिश्र जी आगे भी इसी प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत करते रहेंगे।

दीनदयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
ल० वि०

दो शब्द

आर्यों एवं अनार्यों की संस्कृति के विषय में विद्वानों का मत वैषम्य चिर काल से विचारणीय रहा है। कतिपय विद्वानों का मत है कि अनार्य असंस्कृत और असभ्य थे। उनकी परम्परायें एवं मान्यताएँ हेय और निःसार थीं। इसी प्रकार कहा गया है कि इन अनार्यों की भाषा विषयक कोई व्यक्तिगत परम्परा एवं स्थिरता नहीं थी। इनकी भाषा के सम्बन्ध में भांति भांति की आलोचनायें प्रस्तुत की गई हैं। परन्तु तथ्य तो यह है कि अनार्यों की अपनी संस्कृति थी और उनके जीवन में उसका महत्व था। इतना ही नहीं अनार्यों की संकृति, भाषा, परम्पराओं आदि का आर्यों की संस्कृति एवं परम्पराओं पर बड़ा व्यापक प्रभाव एवं योग-दान रहा। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण एवं रोचक है। परन्तु खेद है कि हिन्दी के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं सम्पन्न हुआ। भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश का हिन्दी में अध्ययन लेखक के द्वारा सर्व प्रथम बार हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आलोच्य विषय का अध्ययन एवं विवेचन संक्षिप्त रूप में हो रहा है। इस दिशा में लेखक का अध्ययन और लेखन क्रमशः अब भी चल रहा है। आशा है कि भविष्य में इस विषय के प्रति हिंदी के अन्य विद्वान भी ध्यान देंगे। ग्रन्थ में "अनार्य" शब्द के स्थान पर "आर्येतर" शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका भी एक कारण है। अनार्य शब्द एक बहुत ही हेय संस्कृति का वाहक माना जाता है। अनार्य शब्द सभ्य समाज में घृणित के लिए प्रयुक्त होता आया है। इसीलिए लेखक ने जान बूझकर अनार्य शब्द के स्थान पर 'आर्येतर' शब्द का प्रयोग किया है।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रेरणा लेखक को अपने श्रद्धेय गुरुवर प्रोफेसर को० अ० सु० अय्यर महोदय से मिली। उनके भारतीय संस्कृति के गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन से लेखक ने बड़ा लाभ उठाया। फ्रेंच, जर्मन तथा अन्य विदेशी भाषाओं के ग्रन्थों का मत लेखक को उन्हीं की कृपा से ज्ञात हुआ है। उनकी इस महती कृपा के लिये लेखक किन शब्दों में धन्यवाद दे सकता है?

समय समय पर लेखक को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० दिनेशचन्द्र सरकार से सुझाव मिले हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने अस्वस्थता की दशा में भी अपना समय देकर लेखक का पथ प्रदर्शन किया। एतदर्थ लेखक इन दोनों विद्वानों का हृदय से आभारी है।

ग्रन्थ को पाठकों के समक्ष पहुँचाने का समस्त श्रेय हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय डा० दीनदयालु जी गुप्त को है। हिंदी विभाग की प्रकाशन माला में इस ग्रन्थ को सम्मिलित करके उन्होंने लेखक को अत्यन्त अनुग्रहीत किया है।

गुरुजनों में भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० सत्यव्रतसिंह तथा पं० गयाप्रसाद जी दीक्षित एवं पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शुक्ल की सहायता का आभार स्वीकार करना लेखक का पुनीत कर्तव्य है। भाषा विज्ञान सम्बन्धी सुझावों के लिए डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ की प्रेस कापी प्रस्तुत करने का नीरस एवं कठिन कार्य मेरे अभिन्न मित्र डा० लक्ष्मीशंकर सिन्हा तथा श्रीमती सिन्हा ने किया है।

शिवशेखर मिश्र

प्राच्य विभाग—

लखनऊ विश्वविद्यालय,

२५ नवम्बर १६५२ ई०

विषय-तालिका

प्रथम–भाग

[भारतवर्ष की जातियाँ, भाषायें आदि]

द्वितीय–भाग

[लौकिक एवं वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में आर्येतरांश]

तृतीय-भाग

[अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में आर्येतरांश]

परिशिष्ट

भूमिका

"जिसे हम आर्य संस्कृति के नाम से पुकारते हैं उसकी सिद्धि के अनेक साधन हैं। वह एक गंभीर विशिष्ट वस्तु है जिसके रहस्य का परिचय विश्लेषण से ही यथार्थतः मिल सकता है" (आचार्य बलदेव उपाध्याय—'आर्य संस्कृति के मूलाधार')

भारतीय संस्कृति की व्याख्या एवं विवेचना परंपरा से पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के विद्वान भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से करते आये हैं, किन्तु वास्तव में उसके व्यापक रूप को समझने की चेष्टा दुर्भाग्यवश बहुत कम विचारकों ने की है। इसी कारण से प्रायः अधिकांश लेखकों की कृतियों में संकुचित दृष्टि के ही दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में एक महान स्थान रखती है। यदि यह कहा जाय कि विश्व की विभिन्न प्राचीन संस्कृतियों के मध्य में इसका स्थान सर्वोपरि है, तो अतिशयोक्ति न होगी। जब हम किसी भी संस्कृति को एक अत्यन्त उच्च स्थान प्रदान करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि निस्सन्देह उसमें अन्य संस्कृतियों के शाश्वत एवं सार्वभौमिक गुणों का समावेश अवश्य होगा। विश्व में वही व्यक्ति, समाज, संस्था, परंपरा अथवा विचारधारा महान हो सकती है जिसकी लोकोत्तर गरिमा एवं महिमा में, सर्व साधारण एवं इतर अंशों की विभिन्न विभूतियाँ पग-पग पर परिलक्षित होती हैं। महासागर की महत्ता उसके अपूर्व गाम्भीर्य में तो है ही, किन्तु साथ ही साथ कुछ सीमा तक उसमें गिरने वाली सहस्त्रों सरिताओं के कारण भी है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति, जहाँ अपनी जगद्विख्यात साधना, ऐश्वर्य, त्याग एवं अन्य धार्मिक तत्वों के कारण एक अद्वितीय स्थान रखती है, वहाँ उसमें विश्व की अन्य संस्कृतियों के अंश भी विद्यमान हैं।

विद्वानों ने इस दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति पर कम विचार किया है। भारतीय संस्कृति को आर्य संस्कृति के नाम से भी पुकारते हैं। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक तुमुल युद्धों तथा संघर्षों का, इतिहास साक्षी है। कालान्तर में विजेताओं तथा पराजितों दोनों में प्राकृतिक आदान-प्रदान के नियमों ने काम किया और जिस आर्य संस्कृति का आज हम दर्शन करते हैं, उसके जीवन के सम्पूर्ण

इतिहास में अनेक ऐसे पृष्ठ हैं, जिनको तथा-कथित अनार्यों ने लिखा है। वे आर्येतर अंश भारतीय संस्कृति के अत्यन्त पुनीत तथा महान् कलेवर को देदीप्यमान करने में कितने सार्थक हुए हैं—यह आगे के पृष्ठ स्वयं बतलायेंगे।

भारतवर्ष से अतिरिक्त अन्य देशों में जहाँ कहीं भी आर्य लोग गये, वहाँ ये बहुधा स्थानीय प्राचीन सभ्यता के नाशकर्ता कहे गये हैं, किन्तु इनके पक्ष में यह कहना अनुचित न होगा कि भारत में आये हुए इनके स्वजन केवल भारतीय संस्कृति को क्षति पहुँचाने वाले ही नहीं थे वरन् उनमें निर्माण करने की प्रखर बुद्धि भी थी। उनके निर्माण का लक्ष्य सांस्कृतिक क्षेत्र की ओर था। वैदिक काल के आरम्भ से साहित्य में उपलब्ध सामग्री द्वारा हमको इस विकास का पुष्ट प्रमाण मिलता है।

समस्त आर्य भाषाभाषी व्यक्ति, धर्म तथा साधारण दृष्टिकोण में वैदिक न थे। ऋग्वेद में यह प्रमाण मिलता है कि वैदिक आर्यों का केवल अनार्यों के साथ ही नहीं वरन् उन अन्य आर्यों के साथ भी युद्ध हुआ, जिनके विचार तथा जीवन के उपादान सम्भवत: समान न थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कुछ अवैदिक आर्य पूर्व में गंगा नदी के किनारे, वैदिक उपासना वाले आर्यों से पहले आये। आर्यों के अन्य समुदाय, जिन्होंने समान रूप से अपने को पूर्वी पंजाब के वैदिक आर्यों से पृथक रखा, पश्चिमी तथा दक्षिणी पंजाब में बस गये।

आर्येतर जातियों—द्रविड़ तथा कोल—ने वैदिक तथा अवैदिक दोनों आर्यों से युद्ध करके संधि कर ली। बहुत से अनार्यों पर अधिक काल तक आर्य-संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव नहीं पड़ा। पंजाब तथा उत्तरी गंगा की घाटी को मिलाकर उत्तरी भारत में मध्य भारतीय-आर्य-युग तक द्राविड़ी (अथवा कोल) भाषा बोलने वाली जातियों का होना कोई असम्भव बात नहीं है। यदि हम ध्यान पूर्वक देखें तो बिलोचिस्तान में अब भी सम्पन्न ब्राहुई जाति के लोग मिलेंगे। साहित्य से इस बात का प्रमाण मिलता है तथा उत्तरी भारत के स्थानीय नामों से सम्भवत: सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य भारत की गोंड नामक द्राविड़ी भाषा-भाषी जाति से संयुक्त प्रान्त के गोंडा जिले का नाम पड़ा है।

द्रविड़ों की लौकिक संस्कृति आर्यों की संस्कृति से कम महत्वपूर्ण नहीं थी, जैसा कि काल्डवेल (Caldwell), पी० टी० श्री निवास ऐंगर आदि विद्वानों ने मान लिया है। ऐसा ज्ञात होता है कि वे लोग चतुर कृषक एवं शिल्पकार थे तथा सृष्टि आदि के सम्बन्ध में स्वतंत्र विचार रखते थे, जिनका प्रभाव आर्यों पर भी पड़ा। दोनों जातियों का सम्पर्क सम्भवत: सर्वप्रथम पंजाब में आरम्भ हुआ तथा गंगा नदी की घाटी में वह मैत्री भाव और घनिष्ठता को प्राप्त हुआ। अंत में दोनों

जातियों में पूर्णरूप से सन्धि हो गई, जिसमें बाह्य रूप से आर्यों की विजय हुई, क्योंकि उनकी भाषा ने उत्तरी भारत में द्राविड़ी भाषा को दबा दिया। भाषा की इस विजय द्वारा आर्यों ने द्राविड़ों की संस्कृति को एक अन्य रूप प्रदान किया।

वैदिक काल से ही भारत के आर्यों के विचार तथा मानसिक दृष्टिकोण वहुत कुछ आदिम यूनानी, इटाली, केल्ट, जर्मन तथा स्लाव जातियों से समानता रखते थे। उस समय, जब कि उनमें विशिष्ट हिन्दू भावों का विकास नहीं हुआ था, द्राविड़ी उपासना तथा द्राविड़ी भाषा उनके धर्म तथा बोली को प्रभावित करने लगी थी। उदाहरण के लिये सृष्टि सम्बन्धी कुछ विचार द्राविड़ी प्रतीत होते हैं। द्राविड़ों के देवताओं का ग्रहण आर्य देवालयों में होने लगा था। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप शनैः शनैः एक नवीन तथा मिश्रित रचना हुई। द्राविड़ों के पर्वतों तथा मरुस्थलों के देवता के नाम का अनुवाद सम्भवतः आर्य भाषा में 'रुभ्र' हुआ और तत्पश्चात् आर्यों के देवता 'रुद्र' (गर्जन करने वाला) से उसकी समानता की गई। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि द्राविड़ी भाषा के नाम, तामिल-शिवन् 'रक्तवर्ण,' शेम्बु 'ताम्र,' शिव तथा शम्भू के रूप में ग्रहण किये गये। हिन्दू विचारों के संशोधन के साथ इस संयोग से बाद को पौराणिक रुद्र-शिव अथवा महादेव सम्बन्धी विचारों की उत्पत्ति हुई। संभवतः द्राविड़ों में एक बानर देवता थे, जिनको वे नरबानर कहते थे। आर्य-धर्म में उनका प्रवेश 'वृषा-कपि' के रूप में प्रतीत होता है, जिसका कुछ आर्यों ने विरोध किया। तत्पश्चात् उसका द्राविड़ी नाम आर्यों की भाषा में ग्रहण किया गया। उसका आर्य-रूप 'हनूमन्त' हुआ (तामिल—'आणमन्दि' नर-वानर)। आर्यों के विष्णु देवता की समानता द्राविड़ों के आकाश के देवता से प्रतीत होती है (द्राविड़ी 'विण'—आकाश)।

डा० जाँ० सिलुस्की (Jean Przyluski) ने आग्नेय तत्व के भाषा विज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धानों द्वारा संस्कृत तथा अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में एक नई जाँच आरम्भ करदी है। भारतीय-आर्य भाषाओं में बड़ी संख्या में आग्नेय शब्दों (जो कोल अथवा मुंडा समुदाय की अपेक्षा मोन-ख्मेर भाषाओं से अधिक सम्बन्ध रखते हैं) का वर्तमान होना उत्तरी भारत की हिन्दू जातियों तथा हिन्दू संस्कृति की उत्पत्ति के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन शब्दों से विदित होता है कि उनका ग्रहण आग्नेय परिवार की बोलियों से उस समय में हुआ, जब कि वे बहुसंख्यक व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से गंगा नदी के मैदानों में बोली जाती थीं। इन आग्नेय भाषाओं के बोलने वाले व्यक्ति अब उत्तरी भारत की हिन्दू (अथवा मुसलमान) जनता में घुल-मिल गये हैं, तथा देश की वर्तमान आर्य-भाषा-भाषी जातियों

में परिवर्तित हो गये हैं। एम० सिलुस्की (M. Przyluski) ने अपने अमूल्य लेखों में अनेक संस्कृत-शब्दों की व्युत्पत्ति दी है, जो उत्तरी भारत में प्रचलित आग्नेय बोलियों से गृहीत हैं। उक्त विद्वान ने मोन-ख्मेर तथा खासी अर्थात् हिन्द-चीन, मलय तथा कुछ दशाओं में सुवर्ण-द्वीप की विभिन्न आग्नेय भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाले समान रूपों की भी तुलना की है। साथ ही साथ उन्होंने उन आग्नेय रूपों की व्युत्पत्ति दी है, जिनका संतोषजनक अर्थ आग्नेय-धातुओं तथा प्रत्ययों के आधार पर प्रकट किया जा सकता है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि लिंग, लांगल, कम्बल, ताम्बूल, कदली आदि आर्य शब्द नहीं हैं, वरन् आग्नेय भाषाओं से गृहीत हैं।

आग्नेय (कोल तथा मोन-ख्मेर) तथा द्राविड़ जातियों और अन्त में उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल की चीन-किरात अथवा तिब्बत-चीनी जातियों ने भारत तथा बंगाल की प्राचीनतम 'नीग्रिटो' और मूल-आस्ट्रोलायड जातियों का अनुगमन किया। जहां तक अन्त की दो जातियों का सम्बन्ध है, उनकी भाषाओं तथा संस्कृति का वर्तमान काल में कोई भी चिन्ह अवशिष्ट नहीं है। वे निस्संदेह आग्नेय, द्राविड़ तथा तिब्बत—चीनी अथवा चीन किरात जातियों में, जो सम्भवत: बाद को आईं, पूर्णरूप से मिल गईं। आस्ट्रोलायड जातियों के बाद में आने वाली आग्नेय जातियों के आदिम निवासस्थान के विषय में दो विभिन्न मत हैं। प्रथम मत के अनुसार भाषा तथा संस्कृति के आधार भूत तत्वों को दृष्टि में रखते हुये प्रारम्भिक आग्नेय जातियों का मूल-स्थान कहीं न कहीं उत्तरी हिन्द-चीन में था। वहां से वे आसाम के प्रान्त में होती हुई पश्चिम की ओर भारत में फैल गईं और गंगा नदी की घाटी को भी उन्होंने घेर लिया। इस प्रकार उनका विस्तार पश्चिम तथा उत्तर में हिमालय के प्रदेश से काश्मीर तक और दक्षिण की ओर सम्पूर्ण दक्षिणी पठार से मालाबार तक था। भारत में वे कोल अथवा मुण्डा तथा अन्य सम्बद्ध जातियों के पूर्वज हो गये। हिन्द-चीन तथा आसाम में उनकी बोली और संस्कृति खासी तथा मोन-ख्मेर जाति-समुदायों में स्थिर रहीं। उन्होंने निकोबार द्वीप-समूह में प्रवेश किया और उनके समुदाय मलय, सुवर्ण-द्वीप तथा और भी पूर्व में पपूवा-द्वीप तथा सागर-द्वीप की ओर बढ़े। एक ओर तो पपूवा-द्वीपी, सागर-द्वीपी तथा सुवर्ण-द्वीपी भाषायें, जो आग्नेय द्वीपी भाषा परिवार बनाती हैं तथा दूसरी ओर आग्नेय देशी भाषायें परस्पर मिल कर एक वृहत्-आग्नेय परिवार बनाती हैं। आग्नेय-देशी भाषायें अधिकतर एशिया के भूभाग में प्रचलित थीं, जैसे भारत की कोल अथवा मुण्डा भाषा, ब्रह्मा तथा हिन्द-चीन की मोन-ख्मेर भाषायें और मलय प्रायद्वीप के आदिम निवासियों की कुछ भाषायें।

आग्नेय परिवार की उत्पत्ति, इस प्रथम मत के अनुसार उत्तरी हिन्द-चीन में है।

द्वितीय मत के अनुसार आग्नेय भाषाओं की उत्पत्ति पश्चिम की ओर पूर्वी भूमध्य सागर के क्षेत्रों में है। आदिम आग्नेय जातियाँ प्राचीन भूमध्य-सागर परिवार की बहुत प्रारम्भिक शाखा बनाती थीं। ये जातियाँ चाल्डिया तथा ईरान होती हुई पूर्व की ओर भारत में आईं। उनकी भाषा तथा संस्कृति भारत में व्याप्त हो गई, और यहाँ से उनका विस्तार ब्रह्मा, हिन्द-चीन, मलय, सुवर्ण-द्वीप और तत्पश्चात पपूवा-द्वीप तथा सागर-द्वीप में हुआ। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि भारत की प्रागार्य जातियाँ आग्नेय उत्पत्ति की थीं (अपनी दो शाखाओं कोल अथवा मुँडा तथा मोन-ख्मेर के साथ) उनका अनुगमन पश्चिम से द्राविड़ी भाषा-भाषी तथा उत्तर और पूर्व से तिब्बत चीनी भाषाओं के बोलने वालों ने किया।

इन प्रागार्य (द्राविड़ तथा आग्नेय) तत्वों तथा नवागन्तुक आर्य-जाति के अंशों के सम्मिश्रण से हिन्दू संस्कृति के उस रूप का विकास हुआ, जिसे हम प्रथम सहस्राब्दी ईसवी पूर्व की अंतिम शताब्दियों के पूर्व में गंगा नदी की उत्तरी घाटी में पाते हैं। यहाँ पर हम हिन्दू शब्द का व्यापक रूप लेते हैं, जिसमें प्राचीन भारतीय अर्थ में उसके ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा अन्य रूप भी सम्मिलित हैं। आर्यों की भाषा इस संस्कृति के प्रकाशन का माध्यम हो गई, और इसके साथ ही साथ उसका वाह्य संगठन भी आर्य था।

प्रथम भाग

[भारतवर्ष की जातियाँ, भाषायें आदि]

भारत के आदि निवासी *

भारत सम्बन्धी सभी शास्त्रों में नृवंश-विज्ञान निस्सन्देह सबसे कम उन्नतिशील है। इस विज्ञान का मुख्य उद्देश्य भारतीय शास्त्र की समस्त शाखाओं को संयुक्त करने का होना चाहिये, किन्तु वास्तव में यह केवल उसके रिक्त स्थानों तथा अनिश्चित बात की ओर संकेत करता है और साथ ही साथ यह सूचित करता हैं कि भारतीय मानव जाति अब भी पर्याप्त रूप से अपरिचित है। इसके दो कारण हैं:—

(१) तथ्य सम्बन्धी कारण—भारत की भूमि बहुत विस्तृत है तथा जनसंख्या भी अत्यन्त विशाल है। लिखित निरीक्षणों की संख्या अनुपातिक दृष्टि से बहुत कम है; उदाहरणार्थ जन विज्ञान का कार्य भारत की जनसंख्या में से कुछ सहस्त्र ही के परिणामों पर हो रहा है। प्रागैतिहासिक युग के अध्ययन का अभी आरम्भ ही है। प्रत्येक व्यक्ति को यह निश्चित समझना चाहिये कि अभी बहुत से ऐसे क्षेत्रों का अनुसंधान करना है जो अस्थिर मतों को आपत्ति में डाल सकता है।

(२) दोषपूर्ण विधियां—हमें कल्पना के उड़ानों पर दृष्टिपात नहीं करना है। पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से किये हुये अनुमान जिनका पूर्व ही खंडन हो चुका है, साधारणतया भारत की जातियों के विषय में जनता की ज्ञानराशि के अत्यन्त महत्वशाली अंग हैं और बहुधा भाषावैज्ञानिक विचार जातियों के भावात्मक अध्ययन का स्थान ले लेते हैं।

जाति तथा भाषा

भारतवर्ष का अध्ययन करते समय लोग बहुधा जाति तथा भाषा को परस्पर मिला देते हैं, किन्तु जाति तथा भाषा सम्बंधी चित्रों में महान अन्तर है—उदाहरणार्थ आसामी भाषा, जो आर्यभाषा है, उसके बोलने वाले अधिकांश व्यक्ति आर्य जाति के ही नहीं कहे जा सकते। प्रत्येक व्यक्ति द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग करता है। इसके अनुसार मुण्डा शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं जिसका कभी-कभी लोग अनुपयुक्त प्रयोग करते हैं :—

(१) एक भाषा परिवार

---

*Louis Renou and Jean Filliozat---'L' Inde Classique 1949

(२) लगभग ६०० सहस्त्र व्यक्तियों वाली एक बड़ी ज्ञाति जिसकी भाषा मुँडारी है।

किसी भी दशा में इसका अर्थ जाति से नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि मुंडा की जनवैज्ञानिक विशेषतायें किसी प्रकार कम्बोजी जनसंख्या का स्मरण नहीं कराती हैं तो कुछ शब्दों की समानता के ही आधार पर भारत तथा हिन्द-चीन के मध्य में जातियों के स्थान परिवर्तन की कल्पना कितनी अपरिणाम सूचक होगी। भाषा तथा जाति के सम्बन्ध में यह मतभेद उस विस्तृत पक्षपात के आधार पर है जिसके अनुसार सभ्यता के तथ्यों के हस्तान्तर का अर्थ जातियों का स्थान परिवर्तन तथा वर्णों का मिश्रण है, जिस प्रकार जापान के आधुनिक परिवर्तनों का आरोप यूरोपीय आक्रमण के प्रवाह पर करना पूर्ण रूप से अनर्थक होगा। क्या वृहत रूप से नार्डिक जाति के व्यक्तियों के आगमन द्वारा भारत का विवादरहित किन्तु पक्षपातपूर्ण आर्यमय हो जाने का अर्थ बतलाना समान रूप से आपत्तिजनक नहीं होगा? एक जाति के ज्ञान, धर्म तथा भाषा का दूसरी में विस्तार तथा परिवर्तन व्यक्तिगत रूप से कार्यकर्ताओं द्वारा हो सकता है जिनकी संख्या कभी कभी असाधारण रीति से सीमित होती है।

नृवंश-विज्ञान के कठिन कार्य

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय नृवंश-विज्ञान रीति रिवाजों तथा भाषाओं पर विचार न करे किन्तु अपने को शरीर शम्बन्धी जनविज्ञान पर ही सीमित रखे। प्राकृतिक जाति के अतिरिक्त जनविज्ञान का ध्येय जनसमुदायों की व्याख्या करना है जो वास्तविकता के साथ हो साथ दुरूह विशेषताओं से पूर्ण हैं। प्राचीन काल से ही भारतीयों की अनेकरूपता पर दृष्टि डाली गई है परन्तु उनका सुव्यवस्थित अध्ययन अब आरम्भ हुआ है। वास्तव में लिखित मन्तव्यों में से बहुत से विधिहीन तथा समभावरहित होने के कारण निरर्थक हैं; उदाहरणार्थ बहुधा भाषा तथा रीति रिवाजों का अध्ययन विचारान्तर्गत व्यक्तियों के शारीरिक ढंग का उल्लेख किये बिना ही पृथक-पृथक किया जाता है। कभी-कभी रीति-रिवाजों की अपूर्वता का उल्लेख किसी सर्वसाधारण वर्णन के साथ मिलाने के बिना ही किया जाता है। अधिकांशत: वाह्य जातियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है जिनमें अधिकतर विशेषतायें ऐसी होती हैं जो उन जनसंख्याओं में प्राप्त होती हैं जो भली-भाँति परिचित प्रतीत होती हैं। किन्तु हमलोगों को यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे पास सबसे अधिक न्यूनता आधुनिक भारत के सबसे अधिक जन-पूर्ण तथा आदर्श क्षेत्रों के नृवंशविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान की है।

नृवंश विज्ञान तथा धर्म

इन अनिश्चित बातों का अन्य उदाहरण धर्मों में मिलता है। भारतवर्ष में प्रभावशाली धर्मों की अधिकता है किन्तु उनके विभाजन के लिये जो शीर्षक व्यवहार में लाये गये हैं वे अपर्याप्त तथा खंडन के योग्य हैं। इस प्रकार तथा-कथित प्रारम्भिक धर्म और हिन्दू धर्म के भेद के विषय में यह अनुमान किया जा सकता है कि अधिकांश दशाओं में हिन्दुत्व व्यावहारिक रूप में विभिन्न मूर्तियों का धर्म है चाहे प्रारम्भिक काल के लोग मूर्तियां रखते हों या न रखते हों; उदाहरणार्थ प्रारम्भिक मुन्डा जाति के लोग ईश्वर की स्वतन्त्र शक्ति में विश्वास करते हुए प्रतीत होते हैं और मूर्तियों अथवा प्रतीकों का अनुसरण नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दुत्व के अन्तर्गत किसी स्थान अथवा पवित्र भूमि से सम्बन्धित कुछ परम्परायें अधिक महत्व रखती हैं। भारत के धर्मों को पूर्ण रूप से समझने के लिये पवित्र स्थानों की सूची तथा एक चित्र बनना चाहिये जो कार्य अभी तक नहीं प्रस्तुत हुआ है। भारतीय धर्मों का भूगोल प्रथम श्रेणी का नृवंश विज्ञान सम्बन्धी तथ्य होगा।

प्रागैतिहासिक युग की जातियाँ

भारतवर्ष में, मुख्यतया दक्षिण के पठार में पाषाण काल की मानुषिक स्फूर्ति के विभिन्न चिन्ह प्राप्त होते हैं। हिमालय की तराई में एक्यूलियन * (Acheulean) नस्ल के व्यक्तियों की पहुँच है। इसके अतिरिक्त तथा-कथित सोहन सभ्यता (डीटेरा) मोस्टीरियन ** (Mousterean) नस्ल का स्मरण दिलाती है। सम्भवत: नव-पाषाण काल का मोहनजोदड़ो की सभ्यता से सम्बन्ध है क्योंकि डीटेरा नामक विद्वान ने काश्मीर के बर्जहोम स्थान पर नव-पाषाण युग की एक तह में कृष्ण वर्ण के मृत्-कला के चिन्ह प्राप्त किए हैं जो मोहनजोदड़ो के चिन्हों से समानता रखते हैं। दुर्भाग्यवश, जो मनुष्य जाति के चिन्ह उपलब्ध हैं वे बहुत कम हैं और सम्बंध की दृष्टि से आधुनिक हैं। यह सत्य है कि अभी तक बहुत कम खुदाइयाँ हुई हैं। अब तक हमें तीन महत्वपूर्ण प्रमाण मिले हैं:—

१—सिन्धु नदी के कंकाल (मोहनजोदड़ो, हड़प्पा नल, मकरान) जिनका सम्बन्ध ताम्र युग अर्थात् तृतीय तथा द्वितीय सहस्राब्दी ई० पूर्व से है। ये पतली नाक वाले अथवा सुनास साधारणतया तीन प्रकार के हैं:—दो दीर्घकपालव ले (अ और ब) जिनमें से विशेषतया एक (सिन्धु अ) जो महाबली हैं बहुत दृढ़ कापालिक परिमाण

---

* फ्रांस के सेंट एक्यूलेस नामक स्थान में प्राप्त पाषाणों के आधार पर।
** फ्रांस के मोस्टियर नामक स्थान में प्राप्त पाषाणों के आधार पर।

वाले हैं। कर्णिक क्षेत्र के पश्चात् के अपवादात्मक विकास के साथ एक वृत्तकपाल नस्ल (सिन्धु स) मिलती है जिनकी कापालिक भित्ति उठी तथा शिर पीछे की ओर चपटा हुआ होता है। इन तीन भेदों का सम्बन्ध बिना कठिनता के मेसोपोटैमिया के टेल-अल-ओबेड तथा किश के भेदों से कर सकते हैं। मोहनजोदड़ो तथा प्राचीन मेसोपोटैमिया के मध्य समानता का पुष्ट प्रमाण मिलता है। वृत्तकपाल नस्ल को आर्मीनायड कहा जा सकता है।

२—सुदूर दक्षिण में तिनेवेली के समीप आदित्त-नैलूर स्थान में प्राप्त कंकालों का सम्बन्ध लौह युग से है। ये साधारणतया दीर्घकपाल तथा मध्यनास वाले हैं और हमें उन रूपों की याद दिलाते हैं जो वस्तुत: सम्पूर्ण भारत में विस्तृत हैं। उनमें से कुछ मिस्र देश के राजवंश युग के पूर्व के कपालों से समानता रखते हैं।

३—अन्त में हम अपने युग की पाँचवीं शताब्दी के अन्त में नष्ट हुए धर्मराजिक मठ की अस्थियों के साथ ऐतिहासिक युग में प्रवेश करते हैं। कपालों से बहुत लम्बे चेहरे और पतली नाक का अनुमान किया जाता है किन्तु दीर्घकापालिक विशेषता प्रकट तथा कपाल भित्ति पूर्व की दशाओं से कम उभरी है। यह नस्ल सिन्धु के नस्लों तथा आधुनिक भारत के प्रबल रूपों से बहुत भिन्न है। दक्षिण भारत के जेउरगी के नीग्रोई कपालों तथा संयुक्त प्रान्त के बयाना के अश्मीभूत पदार्थों से हमें भारत की प्राचीन जनसंख्या की शारीरिक विशेषताओं का ज्ञान होता है।

वास्तविक जातियाँ

जेउरगी (Jewurgi) का कपाल हमारे लिए एक बहुत बड़ी पहेली है। भारत में नीग्रोई नस्ल का कोई अन्य चिन्ह नहीं है। इसी प्रकार अन्डमन द्वीप समूह की नीग्रिटो जाति का भारत में कोई निश्चित प्रतिनिधि नहीं है यद्यपि सुदूर दक्षिण की कुछ जातियों में नीग्रिटो की समानता का संदेह होता है। कोई भी इस तथ्य पर अधिक नहीं टिक सकता कि साधारणतया ताम्रवर्ण तथा कभी कभी कृष्णवर्ण की त्वचा होने पर भी भारतीय किसी भांति हब्शी नहीं है। लोगों को एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि बहुत से कृष्णवर्ण के मनुष्य हब्शी नहीं हैं। कोई भी निश्चित जाति ऐसी नहीं है जो कृष्णवर्ण की जाति कही जा सके।

रिसली का विभाजन

भारतीय नस्लों में अत्यधिक भेद होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति बिलकुल आरम्भ

से एक निश्चित समानता से प्रभावित होता है। यह समानता जिसके अर्थ का पता अभी लगाना है कुछ अंश तक वैज्ञानिक समानताओं से पुष्ट हो जाती है। विशेषतय: इसी बात को रिसलो भारतीय जातियों के विभाजन में स्पष्ट रूप से लाना चाहते हैं। मुख्य सात प्रकार की जातियों में अन्तर प्रकट करते हुये सबको एक मूल जाति पर केन्द्रीभूत करते हुए उन्हें वे द्रविड़ कहते हैं:—

१—द्रविड़ जाति जो रिसली के अनुसार भारतीय जनसंख्या का पहला अंश है। इनका कद छोटा, त्वचा का रंग पक्का और कभी कभी कृष्ण, बाल कभी-कभी घुँघराले, काली आँखें, दीर्घ कपाल वाला शिर, नाक चौड़ी अथवा अधिक चौड़ी होती है किन्तु चपटी कभी नहीं होती है। यह जाति दक्षिणी पठार को घेरे है। इसके अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि मालाबार के पनियार तथा छोटा नागपुर के संथाल हैं, किन्तु यह जाति उत्तर में भी पाई जाती है और पश्चिम में अरावली और पूर्व में राजमहल की पहाड़ियों तक विस्तृत है। यह जाति स्वयं एक अपूर्व एकता का समूह बनाती है। मिश्रित होने के कारण इसने कुछ अन्य प्रकार की जातियों को जन्म दिया है, जिसका क्षेत्र दक्षिणी पठार के उत्तर से लेकर शेष भारत के सम्पूर्ण भाग को घेरे हुये है।

२—शकी-द्राविड़ी जाति जिसमें विशेषत: मराठा जाति के लोग सम्मिलित हैं। यह वृत्तकपाल वाली जाति द्रविड़ तथा तुर्की-ईरानी जातियों के मध्य की है।

३—गंगा के मैदान को आर्य-द्राविड़ अथवा हिन्दुस्तानी नस्ल जिसमें दीर्घकापालिक विशेषता अधिक स्पष्ट नहीं है। ये व्यक्ति भूरी-त्वचा तथा मध्य-नास वाले होते हैं। समस्त जातियाँ परस्पर मिश्रित होकर आर्यावर्त की वास्तविक जनसंख्या का निर्माण करती हैं जो निम्नलिखित भारतीय-आर्यों से पूर्णतया भिन्न हैं।

४—मंगोली-द्राविड़ीनस्ल-इस जाति के व्यक्ति वृत्तकपाल, तथा (मध्यनास) श्याम-त्वचा वाले होते हैं और अधिकांशत: बंगाल में पाये जाते हैं।

५—भारत के उत्तरी भाग में पूर्व की ओर तथा मध्य में वृत्तकपाल नस्ल की जाति है जिसके व्यक्ति छोटे केश, तथा उभड़े हुए अपांगों वाले होते हैं। इन मंगोली जातियों की समानता मैदान (संयुक्त प्रान्त) की ब्राह्मण जातियों से मिलती है।

६—भारतीय-आर्य जो काश्मीर तथा पंजाब के सामान्य लोग हैं और पूर्ण रूप से अत्यन्त न्यून संख्या में हैं। ये पूर्व की ओर केवल ७७ वीं अक्षांतर तक

विस्तृत हैं। ये विशाल-काय व्यक्ति सुन्दर त्वचा वाले तथा दीर्घकपाल, पतली और उभड़ी नासिका वाले होते हैं।

७—तुर्की-ईरानी जो भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त तथा सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर पाये जाते हैं। ये छोटे, वृत्तकपाल तथा सुन्दर त्वचा वाले होते हैं। इनकी नासिका साधारणतया लम्बी होती है।

गुहा का विभाजन

भारत की जातियों के विषय में प्रस्तावित किये हुए प्रथम सज्ञान विभाजन का सारांश ऊपर दिया जा चुका है। इससे लाभ यह है कि यह साधारण जनता के लिये अत्यन्त सरल तथा सुगम है किन्तु यह शताब्दी के आरम्भ का है। नवीन तथ्यों तथा सिद्धान्तों के प्रकाश में यह मत अधूरा तथा आलोचना के योग्य है। बी० एस० गुहा का विभाजन उसकी अपेक्षा अधिक नवीन है। इसमें भाषाविज्ञान संबंधी उत्पत्ति के नाम जैसे द्रविड़ अथवा द्व्यर्थक नाम जैसे शक-आर्य पृथक कर दिये गये हैं और इसमें जनविज्ञान के दृष्टिकोणों पर विशेष बल दिया गया है। यह विभाजन केवल नामों के परिवर्तन पर ही सीमित नहीं है। आवश्यक गणित सम्बन्धी तथ्यों के प्रयोग के कारण यह बहुत कुछ शुद्धता को प्राप्त है। गुहा के व्यवस्थात्मक विभाजन का सारांश नीचे दिया जाता है:—

मूल-आस्ट्रोलायड—सर्व प्रथम हमें आरम्भिक आदि-निवासियों के मूल-आस्ट्रोलायड अंश का भेद स्पष्ट करना चाहिये। इसके अन्तर्गत पहले तो आदित्त-नैलूर के कुछ कपाल सम्मिलित हैं जिनके सामने का निचला भाग बढ़ा हुआ तथा नासिका का सिरा पिचका हुआ (सुकरात नस्ल) है। यह नस्ल दक्षिणी पठार की अधिकांश असभ्य जातियों में पाई जाती है। भारत की इन जातियों, सीलोन के वेड्डों तथा आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों में परस्पर एक समीपता का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अन्तिम दो समुदायों में अत्यधिक निकटता है। जहाँ तक कद का सम्बन्ध है, दक्षिणी पठार में औसत दर्जे का, वेड्डों में कुछ बड़ा और आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों में उससे भी बड़ा है। भारतीय नस्ल का इन सब में शुद्धतम रूप है। इसी कारण से मूल-आस्ट्रोलायड नाम दिया गया है। निम्नलिखित जातियाँ मूल-आस्ट्रोलायड के अन्तर्गत विभक्त की जाती हैं:—

१—मध्यभारत में भील, कोल, बदगा, कोरवा, खारवार, मुंडा, भूमिज तथा माल-पहाड़िया ;

२—दक्षिणी भारत में चिंचू, कुरुम्बा, मलया तथा येरुवा।

गुहा के अनुसार शारीरिक विशेषताओं के उदाहरण

१	२	३	४
	औसत मान मिलीमीटर में	मिलीमीटर में औसत मान	मिलीमीटर में औसत मान
	दीर्घ कापालिक आधार (तेलुगू ब्राह्मण) —	अल्पोडिनेरिक अथवा सिन्धु स (औसत) (गुजरात, कनाड़ा, बंगाल)	मूल-नार्डिक गंगा नदी के समीपवर्ती सिक्ख तथा ब्राह्मण
कद	१'६३४२३	१'६५८०८	१'६८६३६
कपाल			
१-दीर्घ व्यास	१८६,६८	१८३,२५	१९३,८०
२-ह्रस्व-व्यास	१४०,६२	१४९,६०	१४१,७३
३-मान $\frac{१००\ डा}{ड}$	७४,५४	८१,७६	७३,११
कपोलास्थियों के मध्य की चौड़ाई	१३१,१८	१३४,५६	१३४,५८
मुख की चौड़ाई	११५,४०	११६,३४	१२०,६१
मुख-मान	८८,०५	८६,५८	८९,८८ (बहुत ऊँचा)
नासिका-मान	७३,०५	६६,८५ सुनास	६७,१३ सुनास
त्वचा का रंग	स्वच्छ गेहुवां	जैतूनी से गेहुवां	दूध-मिश्रित कहवे के समान स्वच्छ

विशेष:—दूसरे कोष्ठ का कपाल-मान वृत्तकपाल की अपेक्षा उपवृत्तकपाल है—(गुहा के अनुसार जनगणना १९३१, I, ३, पृ० ६० तथा आगे)

मूल दीर्घ-कपाल नस्ल

इन प्रारम्भिक जनसंख्याओं में से जिनको रिसली ने द्रविड़ के व्यापक नाम के

अन्तर्गत लिया है, भारत की मुख्य नस्ल अधिक स्पष्ट रूप से निम्नलिखित प्रकार की है:—

औसत ऊँचाई, दीर्घ कपाल, कपाल भित्ति उभड़ी हुई, ऊँचा मस्तक जिसमें प्राय: गाँठें पड़ी होती हैं, जिसके कारण नेत्र-कोष्ठ कठिनता से दृष्टिगत होते हैं, छोटा चेहरा, कपोलों पर कुछ चिन्ह, छोटी तथा नुकीली ठुड्डी, नाक किञ्चित लम्बी और चौड़ी—मध्यनास के आधार पर, ओष्ठ मोटे तथा लम्बी आकृति वाला मुख। इसके अतिरिक्त त्वचा का वर्ण गेहुवाँ (तेलुगू ब्राह्मण) से लेकर गहरे भूरे तक, आँखें गहरी, केश काले तथा सीधे जिनका झुकाव लहरिया रूप की ओर, बालों की संस्थिति कुछ घनी सी।

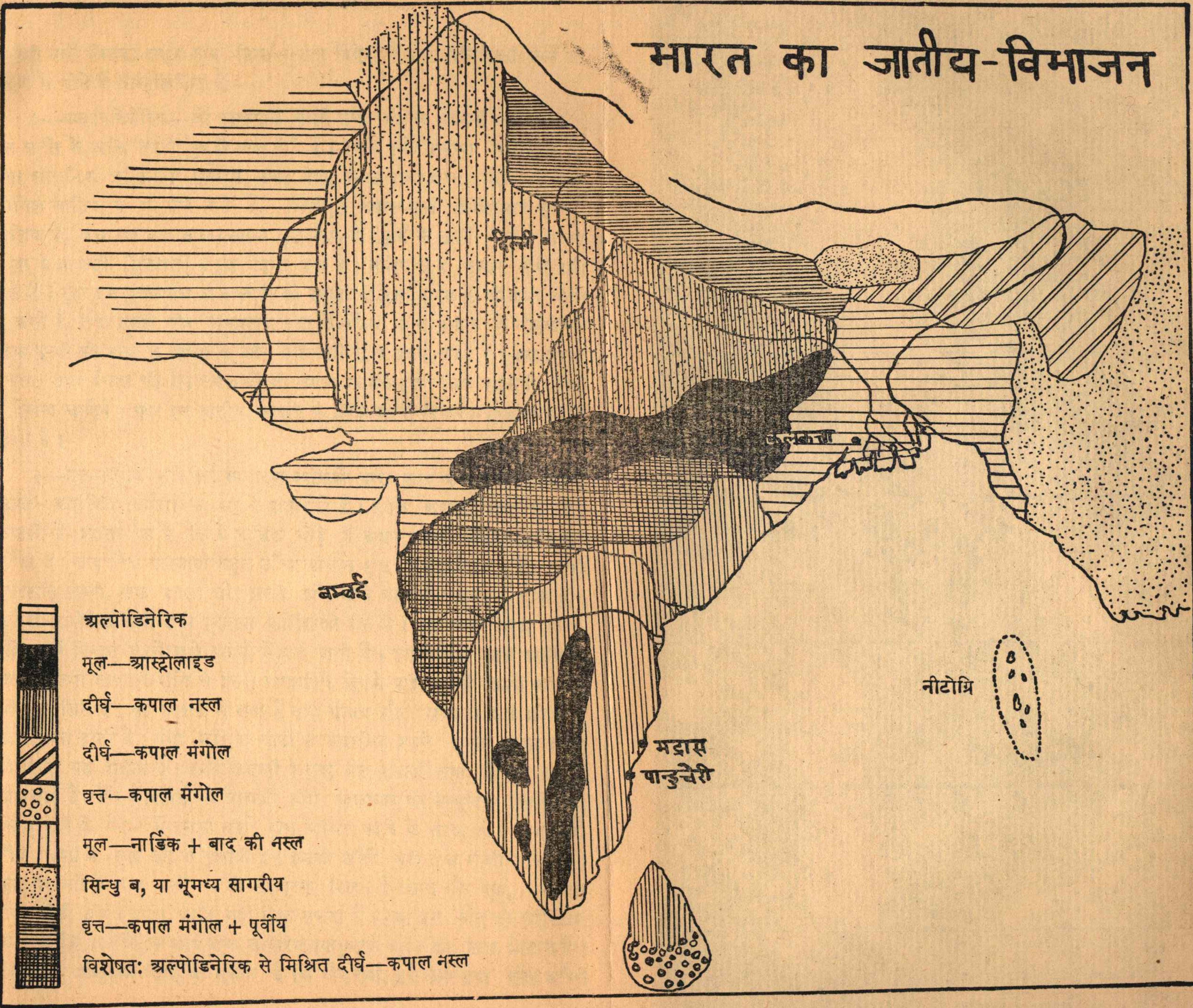
इस प्रकार के व्यक्तियों का प्रभुत्व दक्षिण तथा उत्तरी भारत की निम्न जातियों में है। ये व्यक्ति गंगा के मैदान में निवास करने वाली जातियों के मध्य में भी पाये जाते हैं। यद्यपि ये अन्त में मिश्रित रूपों के द्वारा मूल-आस्ट्रोलायड नस्लों से सम्बन्धित हैं किंतु पूर्व में उनसे भिन्न हैं और वास्तविक समानता वाली नस्ल केवल ईलियट स्मिथ द्वारा अध्ययन किये हुए कंकालों में प्राप्त होती है जो उत्तरी मिश्रदेश के राजवंश काल के पूर्व की समाधियों में पाई गई है।

सिन्धु की नस्लें

सिन्धु की नस्लों में से दो दीर्घकापालिक नस्लों को बाद की नस्ल से नहीं मिलाना चाहिए। इन दो में से अधिक हृष्ट-पुष्ट तथा बलवती (सिन्धु अ) नस्ल आजकल ऊँची गुद्दी वाले शक्तिशाली पंजाबियों में अवशिष्ट है। गुहा इसे चैल-कोलिथिक युग की ह्रस्व-कपाल नस्ल कहते हैं जिससे इसका वास्तविक सिन्धु-नस्ल (सिन्धु ब) से भेद प्रकट हो सके। इसकी समानता उन व्यक्तियों में मिलती है जो अधिक कृशगात्र वाले हैं तथा अच्छे लक्षणों से युक्त हैं और जिनकी नासिका सीधी होती है। इसी कारण इनकी तुलना भूमध्यसागर की नस्ल से की जा सकती है। यह सिंधु नस्ल उत्तरी भारत की जनसंख्या के मध्य में उच्च स्थान ग्रहण करती है। इनका न केवल मोहनजोदड़ो की उच्चकोटि की सभ्यता में ही वरन् आजकल, की ब्राह्मण जातियों के मध्य में भी एक विशेष स्थान है। इसी आधारस्तम्भ पर हम उस विभिन्नता को भली प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं जो मध्य श्रेणी की जातियों में उत्तर के भारतीयों का दक्षिण के भारतीयों से अन्तर प्रकट करता है।

थोड़ा सा विचार करने पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये दो सिन्धु नस्लें भारत के लिये अपरिचित सी हैं किन्तु व्यावहारिक रुप से यह निश्चित है कि

भारत का जातीय-विभाजन



अ
ब

प्र
ह
अ
ह
अ
स.

मे
ज
नि
इ
के

नि
अ
क
(
अ
ह
सि
न
ज
लि
के

न

वे सभी नस्लें जिनका वर्णन अब किया जायगा विदेशी हैं। ये अनिश्चित तत्व जो संख्या में थोड़े हैं निम्नलिखित हैं:—

१—अल्पो-डिनेरिक—जो वृत्तकपाल वाली तथा मंगोल जातियों से भिन्न है। इस जाति के व्यक्ति चपटी गुद्दी वाले होते हैं। इनके पूर्वज हड़प्पा में (सिन्धु स) तथा आधुनिक प्रतिनिधि गुजरात, कन्नड़ देश, बंगाल तथा प्राय: मराठों में तथा तामिल जातियों में भी पाये जाते हैं,—[चेटी]। कपाल-मान किञ्चिन्मात्र वृत्तकापालिक है, त्वचा का वर्ण साधारणतया कुछ साफ है। कुर्ग के लोगों में तथा उत्तरी प्रदेश के ब्राह्मणों [गुजरात] में यह जैतूनी वर्ण है। संयोग से वे सुन्दर नेत्रों वाले होते हैं। गुहा इन वृत्तकपाल वाले लोगों की तुलना दक्षिणी अरब के ओमानी लोगों से करते हैं, तथा दूसरी ओर रामप्रसाद चंदा के संकेत से वे बंगाल के दीर्घकापालिक पुरुषों को उन्हीं के पड़ोस के ब्रह्मा के निवासियों से पृथक करते हैं। इस प्रकार गुजरात तथा बंगाल की जन संख्याओं की समान उत्पत्ति होगी जिसे पश्चिमी प्रदेशों में देखना चाहिये। गुहा इस जातीय समुदाय के लिये अल्पो-डिनेरिक नाम प्रस्तावित करते हैं।

२—मूल-नार्डिक—जो सर्व साधारण व्यक्तियों द्वारा आर्य कहे जाते हैं जिसके चिन्ह कदाचित धर्मराजिक मठ से प्राप्त होते हैं। इनके कपालों तथा भारतीय कपालों में अन्तर यह है कि ये अधिक चौड़े हैं तथा इनकी कपाल-भित्ति कम ऊँची है। कापालिक परिमाण बहुत ऊँचा अर्थात १५५२ सेंटीमीटर ३ है। इनकी मुखाकृति लम्बी, नाक पतली और लम्बी और नीचे का जबड़ा मजबूत होता है। सम्पूर्ण शारीरिक अंगों से ये पूर्णतया शक्तिशाली होते हैं। यह नस्ल बहुधा उत्तर-पश्चिम में निवास करने वाले पठानों में पाई जाती है। इसकी शुद्ध नस्ल काफिरिस्तान में तथा साधारण रीति से दरदी भाषाओं के क्षेत्र में पाई जाती है जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित है। यह सिक्खों में स्पष्ट है तथा पंजाब और राजपूताना के प्रदेशों में भी दृष्टिगत होती है। गंगा नदी की घाटी में कदाचित इसने अपना प्रभाव डाला हो किन्तु यह अस्पष्ट है। इनके लक्षणों के कुछ अंश ब्राह्मणों तथा विभिन्न धर्मों में प्राप्त होते हैं जैसे आर्यावर्त के ब्राह्मणों तथा मालाबार की नम्बूदिरी जाति में। सिन्धु नदी के मैदान में इनका वर्ण दुग्ध-मिश्रित कहवे के सदृश साफ तथा पर्वतीय प्रदेशों में स्पष्ट रूप से गुलाबी है। इनकी आँखें भूरी तथा नीली होती हैं। कुछ दशाओं में लाल बालों के भी उदाहरण मिलते हैं किन्तु गौर वर्ण, भूरे बाल तथा कंजी आँखों वाला व्यक्ति नहीं मिल सकता है। गुहा इस बात का अनुमोदन करते हैं कि यहाँ वैदिक आर्य तथा साधारणतया आर्य जाति की नस्ल मिलती है। किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि गौर वर्ण, भूरे केश तथा कंजी आँखों

वाले व्यक्ति का विकास केवल बाद को इस जाति की यूरोपीय शाखा में हुआ होगा। अत: भारतीय शाखा के लिये मूल-नार्डिक शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३—पूर्वी नस्ल—गौर वर्ण की त्वचा, काली आंखों, लम्बी तथा झुकी हुई नाक वाली एक अन्य नस्ल भी है जिसे फिसर नामक विद्वान पूर्व वर्ग की नस्ल से, विशेषतया हिमालय प्रदेश में, मिश्रित पाते हैं तथा जिसे वे पूर्वीय कहते हैं। इसके प्रतिनिधि अधिकतर मुसलमान हैं।

अन्य नस्लें तथा परिणाम

अन्य नस्लें केवल भारतवर्ष के सीमान्तों पर पाई जाती हैं और वे भारत के लिए विदेशी हैं। उनमें से तिब्बती, मंगोली, समुद्री तथा सागरद्वीपी नस्लें हैं। गुहा भारत के मैदानों को जनसंख्या पर मंगोली प्रभाव को नहीं मानते हैं। व्यापक दृष्टि से इन जातियों के इतिहास का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। वास्तविक जनसंख्या के निर्माण में इन समस्त तत्वों में से प्रत्येक ने जो भाग लिया है वह संदेहास्पद है, विशेषतया जब व्यावहारिक रूप से समस्त क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। वर्णव्यवस्था के कारण विस्तार अत्यन्त गूढ़ तथा विवादपूर्ण है। कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ पर शुद्ध प्रकार की जाति पाई जाती हो। अधिक व्यापक दृष्टि से हम निम्नांकित भेदों को देखते हैं:—

१—उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में मूल-नार्डिक नस्ल जो भूमध्यसागर तथा पूर्वी नस्ल के साथ ही साथ पाई जाती है।

२—प्रायद्वीप की एक मुख्य दीर्घकापालिक नस्ल।

३—इस बाद वाली नस्ल के आस पास पश्चिम तथा पूर्व की वृत्तकापालिक नस्ल।

४—कुछ विभिन्न तत्व जो अंशत: आदिम तथा अंशत: मंगोल नस्ल के हैं।

५—मिश्रित तत्वों का एक समुदाय।

भारतवर्ष की भाषायें

भारतवर्ष अन्य धनों तथा ऐश्वर्यों के साथ ही साथ विभिन्न श्रेणियों की भाषाओं तथा बोलियों से भी परिपूर्ण है जो इस पवित्र तथा विस्तृत भूमि में उच्चरित होती हैं।

विशेषतया पर्वतीय प्रदेशों में जहाँ असंख्य जातियाँ हैं, इतनी विभिन्न प्रकार की बोलियाँ पाई जाती हैं कि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि वे पृथक भाषायें अथवा विशद् व्याख्यापूर्ण बोलियाँ हैं या केवल अन्य प्रकार के भिन्न भिन्न रूप हैं। मैदानों में आत्मीकरण की रीति के फलस्वरूप अधिक महत्वपूर्ण भाषाओं का विस्तार होता है और बहुत सी बोलियाँ, जो साधारणतया प्रान्तों तथा जिलों तक सीमि तरहती हैं, एक व्यापक रूप के अन्तर्गत आ जाती हैं। किन्तु बम्बई तथा कलकत्ता जैसे विशाल नगरों में बहुधा ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जो बिना किसी कठिनाई के साधारणतया दो तीन भाषायें बोल सकते हैं तथा बहुत से ऐसे शिक्षित व्यक्ति भी मिलते हैं जो सरलतापूर्वक शुद्ध रीति से कई बोलियों में अपने हृदय के विचारों को प्रकट कर सकते हैं।

परन्तु इस विस्तृत भाषा-क्षेत्र का वैज्ञानिक अनुसंधान तथा तुलनात्मक अध्ययन अब भी अपूर्ण दशा में है, यद्यपि गत वर्षों में व्यापक अथवा विशेष आधारों पर अमूल्य अन्वेषण हुये हैं। इस सम्बन्ध में जान विल्सन, मैक्समुलर, जार्ज कैम्पबेल क्राफर्ड, मार्सडेन, काल्डवेल, लैथम, बर्नेल, बीम्स, कस्ट, ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वान तथा डा० सुनीति कुमार चटर्जी, डा० बाबूराम सक्सेना, श्री मंगलदेव शास्त्री, डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि भारतीय विद्वान धन्यवाद के पात्र हैं।

वे विद्वान जो अधिक समय तक संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य के अध्ययन में लीन रहे, उनके पास या तो देशी भाषाओं के विश्लेषण के लिए समय न था अथवा उन्होंने उन पर कदाचित् ध्यान देना उचित न समझा। आरम्भ के धर्म प्रचारक नियमानुसार अपने मंडल की सर्वमान्य भाषा सीखते थे जहाँ तक वह उनके धर्मप्रचार के कार्य में आवश्यक होती थी।

गत पचास वर्षों से तथा विशेषतया हाल के वर्षों में अधिक महत्वपूर्ण जीवित भाषाओं का अध्ययन तथा सुधार शीघ्रता से बढ़ गया है। सर्वत्र मिश्रित देशी भाषाओं की संस्थायें हैं तथा प्रति वर्ष बहुसंख्यक सामयिक पत्रों तथा पत्रिकाओं के अतिरिक्त विभिन्न देशी भाषाओं की लिपि में अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं।

अत: यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि अभी तक न तो भारत की भाषाओं की वास्तविक संख्या निर्धारित करने के लिए कोई वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान हो पाया है, न भारतीय भाषा-क्षेत्रों की सीमाओं के विषय में ही मतैक्य है जो वास्तव में भारत की भौगोलिक तथा राजनैतिक सीमाओं से बहुत कुछ भिन्न हैं।

'सर जार्ज ग्रियर्सन' ने बहुत ही हाल के एक प्रकाशन* में १९०१ की ब्रिटिश-भारतीय जनगणना के आधार पर, जिसमें इनका एक अध्याय भारतीय

The Languages of India and the Census of 1901

भाषाओं पर है, पूर्ण संख्या की गणना १४७ की है। इसमें दो अदन में बोली जाने वाली [सामी और हामी] भाषायें भी सम्मिलित हैं। उक्त विद्वान ने सीलोन की भाषाओं [सिंहली तथा द्वीप के आदिम निवासी वेड्डों की भाषा] को तथा देश के अस्थायी यात्रियों की भाषाओं का बहिष्कार कर दिया है। मलय भाषा-परिवार से उन्होंने केवल दो [सेलँग तथा निकोबारी] को सम्मिलित किया है तथा कोंकणी को मराठी भाषा की एक बोली बना दिया है।

जार्ज ग्रियर्सन के भाषाविज्ञान सम्बन्धी सर्वे* से भाषाओं के अध्ययन में बड़ी सहायता मिली है किन्तु यह सर्वे अब बहुत पुराना हो गया है। तब से अब तक देश में बहुत से परिवर्तन हो गये हैं। अत: वैज्ञानिक ढंग पर इस प्रकार के सर्वे की पुन: आवश्यकता है।

भारोपीय परिवार
तथा
भारतीय-आर्य भाषायें

संसार के समस्त भाषा परिवारों में इस भारोपीय परिवार का उच्च स्थान है। भाषाओं के उच्चारण करने वालों की संख्या, साहित्य तथा क्षेत्र-विस्तार आदि पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। इस परिवार की भाषायें केवल हमारे देश के अधिकांश स्थलों में ही नहीं वरन् ईरान, आर्मीनिया, प्राय: सम्पूर्ण यूरोप, अमेरिका महाद्वीप, अफ्रीका के दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेशों में तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीप में बोली जाती हैं। डा० बाबूराम सक्सेना** के मतानुसार इसी परिवार की मुख्य भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके ही भाषा विज्ञान का आविर्भाव हुआ।

नाम—सर्व प्रथम इस परिवार को 'इंडो जर्मनिक' नाम से पुकारा गया। जर्मन विद्वानों ने देखा कि परस्पर एक सूत्र में आबद्ध अनेक भाषायें एक ओर तो भारत

(Asiatic Society Quarterly Review--April 1904
*Linguistic Survey of India
सामान्य भाषाविज्ञान—पृष्ठ २२५

के पूर्व में और दूसरी ओर जर्मनी के पश्चिमी प्रदेशों में बोली जाती हैं [जर्मनी के पश्चिमी देशों की भाषायें अंग्रेजी, डच आदि वास्तव में जर्मनी शाखा के ही अन्तर्गत हैं] । अतः उन्होंने यह देख कर 'इंडो जर्मनिक' नाम रख दिया । आयलैंड तथा वेल्ज़ देशों की केल्टी शाखा की भाषायें जर्मनी शाखा के अन्तर्गत नहीं आती हैं । इस परिवार की प्रधान भाषा संस्कृत मान कर कुछ विद्वानों ने इसका 'संस्कृतिक' नाम रखने का विचार किया किन्तु तत्पश्चात उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि संस्कृत भाषा समस्त भाषाओं का मूल स्रोत नहीं है । इंजीली सम्प्रदाय के अनुसार सामी, हामी परिवारों के आधार पर हज़रत नौह के तृतीय पुत्र जैफ के नाम पर इस परिवार का नाम 'जैफ़ाइट, रखने का विचार किया गया, किंतु यह सिद्धान्त भी स्थिर न रह सका । अन्त में 'आर्य' तथा 'इन्डो यूरोपियन' ये दो नाम प्रस्तुत किये गये, किन्तु जैसा कि यूरोपीय विद्वानों का कथन है 'आर्य' शब्द का प्रयोग इस परिवार की हिन्द-ईरानी शाखा के लिये अधिक उचित है । अतः 'इंडो-यूरोपीय' अथवा 'भारोपीय' नाम अधिक श्रेयस्कर है ।

वर्तमान भारोपीय भाषायें क्रमानुसार निम्नलिखित दस शाखाओं में विभक्त हो सकती हैं :—

१—हिन्द-ईरानी अथवा आर्य जिसके तीन समुदाय हैं:—

अ—इंडिक, भारतीय अथवा भारतीय-आर्य समुदाय जिसमें वैदिक तथा लौकिक संस्कृत, प्रारम्भिक शिला-लेखों की प्राचीन प्राकृत भाषायें, पाली, प्राचीन अवशिष्ट लेखों तथा वर्तमान साहित्य की अन्य प्राकृति भाषायें तथा अपभ्रंश, भारत की आधुनिक (देशी) आर्य भाषायें, एकु अथवा प्राचीन सिंहली तथा आधुनिक सिंहली, और आर्मीनिया, सीरिया, टर्की तथा यूरोप की हबूड़ी भाषायें ।

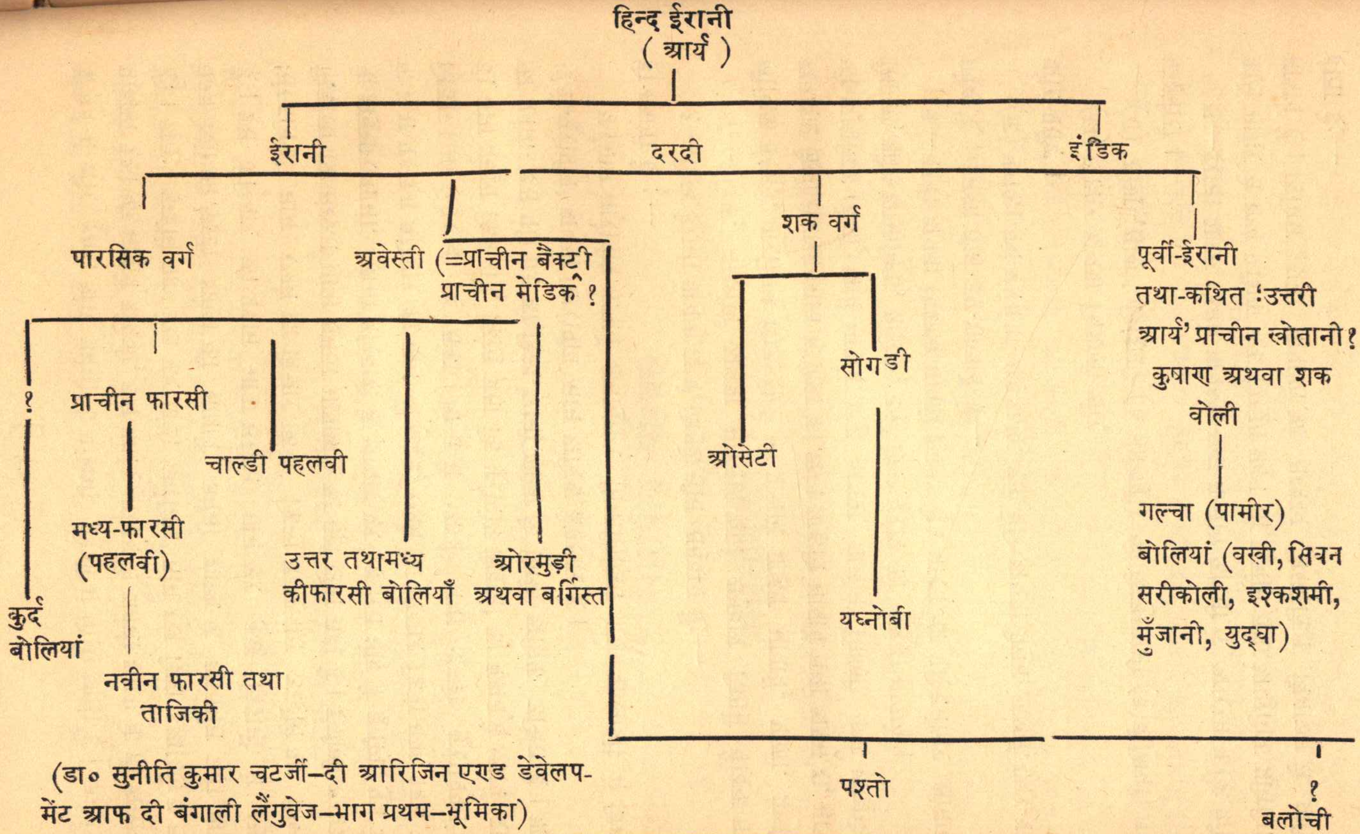
ब—दरदी अथवा पिशाच भाषायें इनका क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश है । इनकी तीन उप-शाखायें हैं—

(क) काफिर वर्ग-बसंगली; वइ-अला, वर्सा-वेरि अथवा प्रेसुन; कलर्स, गवर-बती और पर्सइ ।

(ख) खोवार अथवा चित्राली और

(ग) सीणा-सोणा विशिष्ट (७ बोलियाँ), को हिन्दुस्तानी (३ बोलियाँ) तथा काश्मीरी ।

स—ईरानी शाखा जिसमें अवेस्ती तथा प्राचीन फारसी से आरम्भ करके और काले सागर से मध्य एशिया तक विस्तृत बहुत सी प्राचीन तथा आधुनिक प्रतिनिधि भाषायें हैं । विभिन्न ईरानी भाषाओं का सम्बन्ध निम्नांकित विभाजन से प्रतीत होता है:—



(डा० सुनीति कुमार चटर्जी—दी आरिजिन एण्ड डेवेलप-
मेंट आफ दी बंगाली लैंगुवेज—भाग प्रथम—भूमिका)

नोट:—पारसिक की अपेक्षा अन्य उप-समुदाय प्राय: 'अपारसीक' के अर्थ में 'मेडिक' के अंतर्गत विभक्त किये जाते हैं।

२. आर्मीनी शाखा,
३. बाल्टी-स्लावी शाखा,
४. अल्बानी शाखा,
५. यूनानी शाखा,
६. इटाली शाखा,
७. केल्टी शाखा,
८. जर्मनी अथवा ट्यूटानी शाखा।
९. तोखारी
१०. हित्ती

उपर्युक्त दस शाखाओं के अतिरिक्त जिनकी भाषायें वर्तमान हैं बहुत सी अन्य भाषायें यूरोप तथा एशिया में थीं जिनका अब लोप हो गया है तथा जो भारोपीय परिवार की थीं जैसे इटली की लिगूरी, ऐपिजी, मेसैपी तथा वेनेटी भाषायें; डेशी तथा थ्रैशी भाषायें और प्राचीन एशिया माइनर की फ्रिजी भाषा जो थ्रैशी भाषा से सम्बद्ध थी तथा कुछ विद्वान उसका सम्बन्ध आर्मीनी से बताते हैं। अभी हाल के वर्षों में चीनी तुर्किस्तान से, बौद्ध तथा अन्य ग्रन्थों से अनुसन्धानों द्वारा भारतीय ब्राह्मी लिपि में एक भाषा मिली है जो बहुत काल तक तारिम घाटी में प्रचलित रही। इसका कुची अथवा तोखारी नाम दिया गया है और यह भारोपीय परिवार शाखा के अन्तर्गत बताई जाती है। यह भारोपीय परिवार की पूर्वी भाषाओं की अपेक्षा पश्चिमी भाषाओं (केल्टी, इटाली तथा स्लावी और आर्मीनी) से अधिक समानता रखती है।

भारतीय-आर्य शाखा की विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों का पारस्परिक सम्बन्ध आगे के पृष्ठ की सूची के द्वारा प्रकट किया जा सकता है जो विशेषत: ग्रिथर्सन' के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया' के आधार पर है। यह सूची केवल भारत की आर्य भाषाओं के विकास की साधारण धाराओं की ओर ही संकेत करती है। भौगोलिक चित्रों तथा विस्तृत वर्णनों के लिये उपरोक्त ग्रन्थ ही प्रमाण है।

नितान्त पश्चिमोत्तर से आरम्भ करने पर हम दरदी भाषायें पाते हैं जो यद्यपि भारतीय-आर्य परिवार के अन्तर्गत नहीं है किन्तु इस सम्बंध में विचारणीय हैं। ये भाषायें काश्मीर की घाटी तथा काश्मीर के उत्तर तथा पश्चिमोत्तर में अर्थात् दर्दिस्तान (गिल्गिट आदि), चितराल तथा काफिरिस्तान, जिसका पश्चिमोत्तर सीमान्त हिन्दूकुश है, बोली जाती हैं। दरदी भाषाओं अथवा इसी समुदाय की प्राचीन बोलियों ने पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर के भारतीय आर्य परिवार की बोलियों को

[पश्चिमी पंजाबी, (लहँदी) तथा सिंधी जिसके लाक्षणिक उदाहरण हैं] प्रभावित किया। काश्मीरी के अतिरिक्त दरदी भाषायें यद्यपि भाषाविज्ञान के अनुसार आवश्यक हैं, किन्तु उनका कोई उच्च स्थान नहीं है। उनके बोलने वालों की संख्या बीस लाख से अधिक नहीं हैं, जिनमें से एक लाख तो काश्मीरी भाषा बोलने वाले ही व्यक्ति हैं। काश्मीरी के अतिरिक्त आजकल की दरदी भाषाओं में कभी संशोधन नहीं हुआ और वे केवल उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित हुईं। अत: उनके प्रारम्भिक युग के कोई भी चिन्ह उपलब्ध नहीं हैं। बहुत ही आरम्भ काल से काश्मीर सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में भारतीय आर्य के भूभाग का एक अंग था जबकि दरदी भाषाओं के अन्य स्थल दुर्गम होने के कारण, कभी पूर्णतया भारतीय प्रभाव तथा संगठन में नहीं लाये गये जिसके फलस्वरूप वहां के लोगों ने प्रारम्भिक नियमों को ही कायम रखा। सर्वप्रथम काश्मीरी भाषा संस्कृतिक तथा भारतीय-आर्य समुदाय की ही भाषा मानी जाती थी, क्योंकि इसमें भारतीय-आर्य परिवार सम्बन्धी बहुत से तत्व पाये जाते हैं किंतु इसकी दरदी समानतायें अब पूर्णरूप से स्थापित कर दी गई हैं।*

भारतीय आर्य भाषायें

समस्त भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनि, पदरचना आदि पर विचार करते हुए उनके इतिहास को सुविधानुसार तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है:—

१—प्राचीन-युग-जबकि भाषा ध्वनि तथा रूप दोनों के अनुसार बहुत ही जटिल तथा क्लिष्ट थी।

२—मध्य-युग-जबकि प्राचीन व्यंजनों को सरल करने तथा व्याकरणिक रूपों को संक्षिप्त करने की ओर प्रवृत्ति थी। इसे भी तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—आदि, मध्य तथा उत्तर तथा इसके आदि और मध्य काल के बीच में एक सन्धिकाल (Transitional period) आता है।

३—वर्तमान-युग-जबकि मध्य-युग की सरलीकरण की प्रवृत्तियों का विकास हो गया था, प्राचीन विभक्तियों की अवस्था शनै: शनै: परिवर्तित होते होते थोड़े से साधारण रूपों में रह गई थी, व्याकरण को अनेकों नवीन सहायक शब्दों को मिश्रित करके बढ़ाना आवश्यक हो गया था जिसके फलस्वरूप भाषा के सम्पूर्ण विधान ने परिवर्तित होकर आधुनिक देशी भाषाओं को जन्म दिया।

भाषा के इतिहास के विषय में कोई भी निश्चित तिथि नहीं प्रस्तुत की जा

*"Grierson" Linguistic classification of Kashmiri I Art 1915, p 270

सकती किन्तु वेदमन्त्रों के रचनाकाल से (१५०० ई० पू० ? से १२०० ई० पू० तक ?) – गौतम बुद्ध के ठीक पूर्व के समय तक (५५७-४७७ ई० पू०) तक प्राचीन युग का काल माना गया है। मध्य-युग का समय ईसा के ६०० वर्ष पूर्व से लेकर लगभग ईसा के १००० वर्ष पश्चात् तक कहा गया है जिसमें ६०० से २०० ई० पूर्व तक प्रथम अथवा आदिकाल, ई० पू० २०० से २०० ई० पश्चात् तक सन्धिकाल, ईसा के २०० वर्ष पश्चात् से ५०० अथवा ६०० वर्ष पश्चात् तक मध्य युग का द्वितीय काल तथा ६०० ई० से १००० ई० तक मध्य युग का तृतीय अथवा उत्तर काल माना गया है। ईसा के १००० वर्ष पश्चात् आरम्भ की कुछ शताब्दियों तक वर्तमान युग का प्राचीन काल कहा जा सकता है जिसमें वर्तमान भारतीय-आर्य भाषाओं का प्रवेश हुआ।

इन भारतीय-आर्य भाषाओं को निम्नलिखित तीन युगों में विभक्त किया जा सकता हैं :—

१– प्राचीन भारतीय-आर्य युग-इसके अन्तर्गत वैदिक तथा लौकिक दोनों भाग आते हैं।

ध्वनि परिवर्तन ऋ, लृ, ऐ, औ तथा व्यंजन पूर्ण रूप से प्रचलित; अंतिम व्यंजन (अघोष स्पर्श, विसर्ग, कुछ अनुनासिक); व्यंजनों के संयुक्त रूप जैसे क्र, क्ल, क्त, ग्द, त्र, स्म, ह्म, र्त, र्क इत्यादि पूर्ण शक्ति में; धातु ज्ञान लगभग आरम्भ की दशाओं में पूर्ण रूप से विद्यमान।

पद रचना-शब्द रूप-जटिल व्यवस्था, धातु-संज्ञायें; स्वरान्त तथा व्यंजनान्त धातु से निर्मित संज्ञायें; तीन लिंग; तीन वचन; आठ कारक; पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुँसक लिंग के लिये विशेष प्रत्यय तथा सर्वनाम के विशेष रूप। धातुरूप-कालों की कठिन व्यवस्था (वर्तमान, अनद्यतनभूत, सामान्य भूत, परोक्ष भूत तथा पूर्ण भूत, भविष्य तथा क्रियातिपत्ति) वृत्तियाँ [सामान्य, संशयार्थ सूचक, इच्छा सूचक, आज्ञा-सूचक] ; कृदन्त [वर्तमानकालिक, सामान्य भूत कालिक; भविष्यत्कालिक]; परस्मैपदी तथा आत्ममेपदी धातुयें जो दस गणों में विभक्त थीं, दो वाच्य जिनमें से कर्मवाच्य के कुछ विशेष रूप [वर्तमान काल, तीन पुरुष, एक वचन, सामान्य भूत, धातुओं के णिजन्त, सनन्त आदि रूप, कर्मवाच्य कृदन्त, क्रियात्मक संज्ञायें (तुमन्त) तथा सकर्मक क्रियात्मक संज्ञायें और कृदन्त अव्यय।

वाक्य विन्यास—प्रारम्भ में क्रियाओं का भूतकाल के कई भेदों तथा संशयार्थ-सूचक वृत्ति में विस्तृत उपयोग, अव्ययों की स्थिति अनिश्चित, शब्दों का क्रम स्वतंत्र ।

उत्तरकालीन मध्य-युग की भाषाओं पर संस्कृत भाषा का प्रभाव पड़ता रहा है। समस्त प्राकृत तथा आधुनिक भाषायें संस्कृत के शब्द भंडार से शब्दों को ग्रहण करती रही हैं। इसका प्रभाव विदेशी भाषाओं पर भी पड़ा।

२ – मध्य भारतीय-आर्ययुग

(अ) आदि काल––[अशोकी प्राकृत तथा पाली भाषायें]।

ध्वनि– ऋ, लृ का लोप हो गया; ऐ, औ तथा अय, अव > ए, ओ, समीकरण आदि के द्वारा संयुक्त व्यंजनों [क्त, द्द, त्त, ह्म आदि] का सरल हो जाना, पदान्त व्यंजनों तथा विसर्ग का लोप; श, ष, स का केवल एक रूप स अथवा श; पूर्व के स्वतन्त्र सुर के स्थान पर एक निश्चित स्वराघात।

पदरचना—पद व्याख्या अत्यन्त सरल हो गई–द्विवचन का लोप; चतुर्थी विभक्ति का षष्ठी विभक्ति में मिल जाना; सर्वनाम के रूपों का संज्ञा के रूपों में विस्तार। धातुप्रक्रिया–आज्ञासूचक तथा इच्छासूचक वृत्तियाँ रहती हैं किन्तु संशयार्थ-सूचक का लोप हो जाता है जो अत्यन्त कम दशाओं में प्राप्त होती है; परोक्षभूत का प्रयोग कम तथा केवल कुछ ही क्रियाओं तक सीमित; सामान्य भूत तथा अनद्यतनभूत एक साथ ही आते हैं और बहुत कम प्रयुक्त होते हैं, क्रियात्मक संज्ञायें तथा सकर्मक क्रियात्मक संज्ञायें कम हो जाती हैं किन्तु अधिक प्रयुक्त होती हैं; भूत काल के लिये कर्म वाच्य कृदन्त का अधिक विस्तृत प्रयोग।

पाली भाषा को सिंहलद्वीपी लोग मागधी कहते हैं। यूरोपीय विद्वानों ने पाली शब्द का प्रयोग किया है और यही श्रेयस्कर है क्योंकि मागधी शब्द का प्रयोग मागधी प्राकृत के लिये सीमित रखना आवश्यक है। पाली शब्द का प्रारम्भ में अशोकी प्राकृत के लिये भी प्रयोग किया गया था किन्तु अब यह हीनयान बौद्ध धर्म के धर्म ग्रन्थों की भाषा के लिये ही काम में आता है। पाली में कुछ लक्षण ऐसे हैं जिनसे इसका विकास उत्तरकालीन संस्कृति की अपेक्षा वैदिक संस्कृत और तत्कालीन बोलियों से मानना अधिक उचित है।

अशोकी प्राकृत–सम्राट अशोक ने अपने शासन काल के विविध संवत्सरों में स्थान स्थान पर स्तम्भों, चट्टानों, गुफाओं आदि में धर्म प्रचारार्थ बहुत से लेख खुदवाये। ये भारत की समस्त दिशाओं और कोनों में प्राप्त होते हैं। इनकी भाषा का समष्टिरूप से नाम अशोकी प्राकृत है। सूक्ष्म अध्ययन द्वारा विदित होता है कि इनमें उत्तरी-पश्चिमी [शाहबाज़ गढ़ी, मनसेहरा], पश्चिमी [गिरनार], मध्य देशी, पूर्वी [कालसी, धौली जौगढ़] बोलियाँ हैं और साथ ही साथ दक्खिनी भी। अनुमान

यह है कि राजधानी से अर्धमागधी के किसी रूप में लेख सब प्रान्तों में भेजा जाता था और प्रान्त की बोली के अनुरूप उसमें परिवर्तन कर लिये जाते थे।

(ब) सन्धिकाल—(आरम्भ के शिलालेखों की प्राकृतें–खरोष्ठी तथा ब्राह्मी)—इस काल में मुख्यतया केवल ध्वनि में परिवर्तन हुआ। एकाकी अन्तर्वाक सम्बन्धी अघोष स्पर्श तथा विसर्ग सघोष हो गये और प्रारम्भिक सघोष स्पर्शों तथा विसर्गों के साथ आये; ड (ढ) के अतिरिक्त ये प्रयत्न व्यंजन हो गये और इनका अगले युग में पूर्णतया लोप हो गया।

(स) मध्य युग का द्वितीय काल—अथवा मध्यकाल (नाटकों की प्राकृतें–शौरसेनी, माहाराष्ट्री, मागधी तथा जैन अर्ध मागधी)

ध्वनि—दो स्वरों के बीच के स्पर्श का प्राय: लोप होना मध्यकाल की विशेषता है—(काक: > काओ, कति > कइ, पूप: > पूओ)। प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि व्यंजन का यह ह्रास पहले अघोष से सघोष (क् > ग्), फिर सघोष से संघर्षी (ग् > ग्) और तब लोप की अवस्थाओं द्वारा आया है।

पदरचना—साधारणीकरण में और उन्नति हुई किंतु पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग के रूप स्थिर रहे। धातुप्रक्रिया—भूतकाल का बोध कराने के लिएकर्मवाच्य कृदन्त के प्रयोग की रीति हो जाती है। बहुत सी क्रियात्मक संज्ञाओं तथा कृदन्त के रूप हो जाते हैं।

वाक्य विन्यास—शब्दों का क्रम बहुत ही स्थायी हो गया।

शौरसेनी—यह संस्कृत के नाटकों में स्त्रीपात्रों तथा मध्य वर्ग के पुरुषों की भाषा रही है। इससे ज्ञात होता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र में था।

माहाराष्ट्री—यह भाषा, काव्य तथा विशेषकर गीतिकाव्यों की भाषा थी। संस्कृत के नाटकों में प्राकृत का पद्य भाग माहाराष्ट्री में मिलता है।

मागधी—नाटकों के विशेषकर नीच पात्रों की भाषा यही मानी गई है। यह मगध जन-पद की भाषा थी।

अर्ध-मागधी—इसकी स्थिति शौरसेनी तथा मागधी के मध्य की मानी गई है। यह मुख्यतया जैन आदि धार्मिक साहित्य में काम आती है।

इन प्रधान प्राकृतों के अतिरिक्त नाटकों में यत्र-तत्र अन्य प्राकृतों के कुछ अवतरण प्राप्त होते हैं। 'मृच्छकटिक' में शाकारी, ढक्की और अन्यत्र शाबरी तथा

चाण्डाली उप भाषायें पाई जाती हैं। ये मागधी की उपभाषाओं के रूप में मानी जाती हैं।

(द) मध्य युग का तृतीय अथवा उत्तरकाल [अपभ्रंश] [उदाहरण—पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश]

ध्वनि—पदान्त स्वरों का ह्रस्व होना। आ > अ; ए, ओ > इ, उ, बहुत सी बोलियों में पूर्व के युगों के स, स्स, > ह स्वरों का अनुनासिकत्व आरम्भ होता है।

पदरचना—शब्द के अन्त का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया [सेवा > सेव, मानिनी > माणिणि]। संज्ञा तथा क्रिया के रूपों की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के रूपों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित हो गया [पुत्तु एक व० पुत्त बहु व०], इसी प्रकार षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में [षष्ठी–पुत्तह ए० व० पुत्तहँ ब० व० सं०, पुत्तहिं]। क्रिया में भी प्राय: वर्तमान काल (लट्) सामान्य भविष्य (लृट), आज्ञा (लोट् के ही रूप प्राप्त होते हैं।

३—वर्तमान भारतीय-आर्य युग—इसके पुरातन काल की सर्वमान्य विशेषतायें:-

ध्वनि—पूर्व के द्वित्व व्यंजनों का एकत्व होना तथा पहले के स्वर का दीर्घ हो जाना-केवल पश्चिमोत्तर तथा पश्चिमी भागों को छोड़कर।

पदरचना—स्त्रीलिंग का भेद, नवीन उपकरणों के द्वारा बहुबचन का निर्माण [अश्लिष्ट, षष्ठी का प्रयोग आदि], क्रिया के अर्थों की सूक्ष्मता अब संयुक्त क्रियाओं द्वारा व्यक्त होने लगी। प्राचीन युग की लकारों का प्रयोग उत्तरोत्तर न्यून होता गया।

वाक्य विन्यास—संयुक्त क्रिया के निर्माण अब स्थायी हो गये। इस प्रकार प्राचीन-युग के रूप-भेद की जटिलता बहुत कुछ समाप्त हो गई और हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषायें श्लिष्ट अवस्था से अयोगावस्था की ओर प्रवृत्त हुईं। विभिन्नता केवल मुख्यतया लिपि भेद के कारण प्रतीत होती है।

पश्चिमी पंजाबी अथवा लहँदी—जिसके और भी विभिन्न नाम हैं जैसे हिन्दकी, जटकी, मुल्तानी, सिभाली, पोठवारी आदि। यह उन बोलियों का समुदाय है जो पश्चिमी पंजाब के पचास लाख व्यक्तियों में प्रचलित है जो व्यक्ति साहित्यिक कार्यों के लिये उर्दू तथा कुछ अंश तक हिन्दी और पूर्वी पंजाबी का प्रयोग करते हैं। पश्चिमी पंजाबी भाषा में अधिक साहित्य नहीं उपलब्ध है सिवाय केवल सिक्खों के कुछ गद्य-अख्यानों के जैसे जन्म साखी तथा कुछ सर्वमान्य गीत आदि, जिनकी भाषा बहुधा पूर्वी भाषा के रूपों से मिश्रित रहती है। पश्चिमी पंजाबी लिखने की

स्थानीय व्यवस्था तथा लंडा, जो शारदा का एक भेद है, तुलनात्मक दृष्टि से कम प्रयुक्त होती है। साधारणतया भाषा के लिखने में फ़ारसी भाषा के अक्षरों का प्रयोग किया जाता है।

पूर्वी पंजाबी अथवा पंजाबी (१९११ की जनगणना के अनुसार) लगभग १ करोड़ ६० लाख व्यक्तियों की भाषा है। यह बोली सर्वमान्य पंजाबी भाषा का एक रूप है, जो पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र के पश्चिम से पश्तो के क्षेत्र तक विस्तृत है। अन्तर केवल इतना है कि आरम्भ काल से यह गंगा नदी के पश्चिमी क्षेत्र की मध्य की भाषा से प्रभावित रही है। पूर्वी पंजाबी की विभिन्न बोलियाँ हैं जिनका प्रसिद्ध रूप डोगरी है तथा जो जम्मू राज्य तथा काँगड़ा जिले में बोली जाती है। इसमें थोड़ी सी साहित्यिक संस्कृति है जिसके प्राचीनतम वर्तमान चिन्ह सोलहवीं शताब्दी की कुछ सिक्खों की स्तुतियाँ हैं। आजकल सिक्ख लोग साहित्यिक कार्यों के लिये कुछ हद तक पूर्वी पंजाबी का प्रयोग करते हैं जिसके लिये गुरुमुखी लिपि को काम में लाते हैं, जो लंडा की ही एक विशुद्ध आकृति है। किन्तु पूर्वी पंजाबी के वक्ताओं में हिन्दुस्तानी ही प्रभावशाली भाषा रही है। कभी कभी पूर्वी पंजाबी को लिखने के लिये फ़ारसी लिपि का भी प्रयोग किया जाता है।

सिन्धी—यह सिन्धु नदी की निचली घाटी तथा कच्छ की भाषा है और लगभग ३५ लाख से कुछ ऊपर के व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। इसकी पाँच बोलियाँ हैं—विचोली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली तथा कच्छी। सिन्धी भाषा फारसी-अरबी अक्षरों के एक कठिन रूप में लिखी जाती हैं किन्तु लंडा अक्षर व्यापारियों में प्रचलित हैं तथा कभी कभी गुरुमुखी का भी प्रयोग होता है। व्याकरण के रूपों में सिन्धी भाषा में अनेक अप्रचलित विशेषतायें हैं। ध्वनि विज्ञान के अनुसार इसमें चार अपूर्व ध्वनियाँ—आर्य, द्राविड़ी, कोल तथा तिब्बती-चीनी हैं जो किसी अन्य भारतीय भाषा में नहीं प्राप्त होती हैं। ध्वनि तथा पद-रचना में सिन्धी तथा पंजाबी (पश्चिमी और पूर्वी) में समानता के चिन्ह हैं। सिन्धी में गीतिकाव्यों, गद्य-आख्यानों तथा फ़ारसी की शैली के आधार पर लिखे गये कुछ लेखों का संकुचित साहित्य है।

राजस्थानी समुदाय की बोलियाँ [मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी आदि] लगभग १ करोड़ ४० लाख से ऊपर जनसंख्या द्वारा बोली जाती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि गुजराती के साथ मिश्रित होकर ये भारतीय-आर्य परिवार की एक पृथक शाखा बनाती हैं जिसका आधार प्राचीन-युग की भारतीय-आर्य की बोली [अथवा बोलियाँ] हैं; जो मालवा तथा गुजरात में प्रचलित हैं तथा मध्य देश

की शौरसेनी नामक समीपवर्ती बोली के सम्पर्क में आकर परिष्कृत हो गई हैं। ये बोलियाँ ५०० ई० में कुछ सीमा तक गुर्जर जातियों की भाषा [सम्भवत: दरदी की उत्पत्ति] द्वारा प्रभावित हुई थीं। ये जातियाँ उत्तरी–पश्चिमी प्रदेशों से आकर राजपूताना तथा गुजरात में निवास करके वहाँ शासन करने लगीं।

पहाड़ी अथवा खश बोलियाँ—पहाड़ी बोली की सब से महत्वपूर्ण भाषा खशकुरा है। यह पर्वतिया, गोरखाली अथवा नैपाली के नाम से भी पुकारी जाती है। यद्यपि अन्य पहाड़ी बोलियाँ भाषाविज्ञान की दृष्टि से मनोरंजक हैं किन्तु वे अधिक महत्व की नहीं हैं। खशकुरा के अतिरिक्त, [जिसके बोलने वालों की निश्चित संख्या ज्ञात नहीं हैं] अन्य पहाड़ी बोलियाँ बीस लाख से कम व्यक्तियों द्वारा उच्चरित होती हैं। खशकुरा भाषा आरम्भ में पश्चिमी नैपाल से विस्तृत हुई और इसके प्राचीनतम चिन्ह अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग के पूर्व नहीं मिलते हैं। खशकुरा के पूर्व दक्षिणी-पूर्वी नैपाल में मैथिली भाषा प्रचलित होती सी दीखती है। कुछ भी हो, अवधी, मैथिली और बंगाली भाषायें [तिब्बती-बर्मी बोलने वाले] नीवारी राजाओं के दरबार में [जो कि गोरखों के पूर्व शासन करते थे] सांस्कृतिक भाषायें थीं; जैसा कि उपर्युक्त भाषाओं में लिखे हुये नैपाल के नाटकों से प्रमाणित होता है। कुमाउनी, गढ़वाली तथा अन्य विभिन्न बोलियाँ पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत आती हैं जिनका कोई भी उल्लेखनीय साहित्य नहीं है। मध्य पहाड़ी क्षेत्र में हिन्दी साहित्यिक भाषा निश्चित हो चुकी है।

भारतीय-आर्य परिवार की मध्य भाषा पश्चिमी हिन्दी ४ करोड़ १५ लाख से ऊपर के व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। इसके विशेष रूप निम्नलिखित हैं:—

व्रज-भाषा—जो बरेली, अलीगढ़, आगरा, मथुरा, धौलपुर, केरौली के आस पास बोली जाती है।

कनौजी—जो उत्तरी दोआब अर्थात व्रजभाषा क्षेत्र के पूर्व में बोली जाती है।

बुंदेली—जो बुंदेलखंड तथा मध्य-भारत के कुछ भागों में बोली जाती है।

बाँगड़ू अथवा हरियानी—जो दक्षिणी-पूर्वी पंजाब प्रदेश में उच्चरित होती है।

अम्बाला से रामपुर तक व्रजभाषा क्षेत्र के उत्तर की कुछ बोलियाँ हैं जिनके लिए 'देशी हिन्दुस्तानी' नाम प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी तथा उर्दू का मिश्रित रूप ही हिन्दुस्तानी है और पश्चिमी हिन्दी का यह रूप आधुनिक आर्य भारत की महत्वशालिनी भाषा है और इसने देश की समस्त आर्य भाषाओं पर अपना प्रभाव डाला है, यहाँ तक कि कोल भाषायें तथा दक्षिण की द्राविड़ी भाषायें भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रही हैं।

पूर्वी हिन्दी [जो पश्चिमी हिंन्दी भाषियों द्वारा पुरबिया कही जाती है] यह तीन बोलियों के ;समुदाय का नाम है अर्थात अवधी [जिसे कोशली तथा बैसवाड़ी भी कहते हैं] बघेली तथा छत्तीसगढ़ी जो पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र के पूर्व में सयुक्त प्रान्त, मध्य भारत तथा मध्य प्रान्त में २ करोड़ २५ लाख व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। बघेली अधिकांशत: अवधी से समानता रखती है किन्तु छत्तीसगढ़ी कुछ बातों में भिन्न है। इसमें से अवधी का साहित्य अत्यन्त विस्तृत तथा महत्वशाली है। बघेली तथा छत्तीसगढ़ी में बहुत कम साहित्य उपलब्ध है, जिसका कुछ अंश प्रकाशित हुआ है।

मराठी—यह दक्षिणी पठार, बम्बई के समुद्र तट,. बरार, हैदराबाद तथा मध्य प्रान्त में लगभग दो करोड़ व्यक्तियों की भाषा है। मराठी के अन्तर्गत तीन भाषाओं का समावेश है।

[अ] देशस्थ अथवा देशी [जो दक्षिणी पठार के क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा है]।

[ब] कोंकणी अथवा असुद्र तट की बोलियाँ।

[स] वरहाड़ी—नागपुरी-अथवा पूर्वी बोली। गोआ के आसपास की भाषा को भी कोंकणी कहते हैं और वह मराठी से समानता रखने वाली भाषा है, जो स्वयं अपनी पृथक विशेषतायें रखती है। मराठी के प्राचीनतम चिन्ह शिलालेखों में प्राप्त होते हैं।

पूर्वी अथवा मागधी भाषा—इसके क्षेत्र के पश्चिमान्त की भाषा भोजपुरिया है जो लगभग २ करोड़ ५ लाख व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। यह मिर्जापुर, जौनपुर तथा फैजाबाद नगरों के पूर्व से सोन तथा गंडक नदियों की सीमा पर्यन्त बोली जाती है। मगही ६५ लाख के ऊपर के व्यक्तियों की बोली है जो गया, पटना, मुंगेर, हज़ारीबाग तथा बंगाल के मल्दह जिले के पश्चिम में दक्षिण बिहार की कुछ जातियों द्वारा बोली जाती है। मैथिली भाषा बिहार प्रान्त में गंगा नदी के उत्तरी भाग तथा मुँगेर, भागलपुर और सन्थाल परगना के जिलों में १ करोड़ से ऊपर के व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। उड़िया लगभग १ करोड़ से ऊपर की जन-संख्या द्वारा बोली जाती है। बंगाल के दक्षिणी पश्चिमी कोने, उड़ीसा, छोटानागपुर केकुछ भाग, मध्य प्रान्त तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी का प्रदेश इसका क्षेत्र है। आसामी भाषा १५ लाख जनसंख्या द्वारा आसाम की घाटी में विस्तृत है।

बस्तर तथा मध्य प्रान्त में कुछ अपूर्व बोलियाँ प्रचलित हैं जो छत्तीसगढ़ी,

उड़िया और मराठी के मिश्रित रूप हैं। ये उन ज्ञातियों द्वारा बोली जाती हैं जो प्रारम्भ में गोंडी तथा अन्य आर्येतर भाषाओं का उच्चारण करती थीं और एक साथ ही भारतीय-आर्य के तीन विभिन्न रूपों से प्रभावित हुई, जिनमें अधिक अन्तर नहीं है। इन बोलियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण हलबा या हलबी है।

सिंहाली—यह सिंहलद्वीप की विशेषतया दक्षिणी भाग की भाषा है। यह भारत में ईसवी सन् के पूर्व किसी समय, कदाचित सौ-दो सौ वर्ष पूर्व लुप्त हो गई। सिंहालीका आदि रूप एळु है(=हेळु< हिअळु < सीहळु=सिंहल) जो सिंहाली का अपभ्ंश रूप है।

हबूड़ी—जो प्राकृत बोलियों से उद्धृत है और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाती है तथा यह दरदी भाषाओं से सम्बद्ध है। हबू ड़ी जातियों के पूर्वज भारत से ईसा के पांच शताब्दी पूर्व चले गये। इनका प्रथम समुदाय फारस आर्मीनिया तथा बैजन्ताइन राज्य में होता हुआ पूर्वी यूरोप को बारहवीं शताब्दी में गया और वहाँ से पश्चिमी तथा दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप में फैल गया। इनका द्वितीय समूह आर्मीनिया में रुक गया। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं तथा हबूड़ी भाषाओं में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है किन्तु इनका स्वतन्त्र रूप से विकास होने के कारण आधुनिक भारतीय-आर्य परिवार के इतिहास में अधिक विचार नहीं किया जाता है, फिर भी ये मध्य-युग की तथा आधुनिक भारतीय ध्वनि तथा पद-रचना के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालती हैं।

भारत की आर्येतर भाषायें

पिछले अध्याय में भारतवर्ष की आर्य भाषाओं का ही वर्णन किया गया है किन्तु उनके अतिरिक्त बहुत सी आर्येतर भाषायें भी भारतीयों द्वारा बोली जाती हैं। बंगला भाषा-क्षेत्र के सीमान्तों पर बहुत सी आदिम भाषायें तथा बोलियां मिलती हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :-

१. उसके पश्चिमी सीमान्त के अन्तर्गत कोल [मुण्डा] परिवार की एक बोली संथाली मिलती है। संथाली से निकट सन्बन्ध रखने वाली, इसी परिवार की, हो तथा मुण्डारी भाषायें भी बंगला क्षेत्र के पश्चिम में मिलती है।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने कोल जातियों के पड़ोसी आर्य भाषा भाषियों के द्वारा प्रयुक्त नृवंश विज्ञान सम्बन्धी तथा भाषा वैज्ञानिक शब्द 'कोल' को मुण्डा शब्द की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझा है। कोल-एक प्राचीन, परिमित तथा शुद्ध शब्द है। यह मध्य-युग के भारतीय-आर्य परिवार के कोल्ल शब्द से निकला है जो संस्कृत में [कोल के रूप में भी] पाया जाया है और यह स्पष्ट है कि संस्कृत में इसका संकेत मध्य भारत के आदिय निवासियों की ओर था [इसी प्रकार वर्तमान भारतीय-आर्य का 'भील' शब्द आरम्भ के 'भिल्ल' शब्द से उद्धृत है जो संस्कृत तथा प्राकृत में पाया जाता है] कोल्ल कॉल शब्द स्वयं 'कॉल' उत्पत्ति का प्रतीत होता है और सम्भवत: यह मूल रूप की प्रारम्भिक आर्य प्रतिलिपि है। छोटा नागपुर के सिंगभूम जिले के एक भूभाग को कोल्हन [कोल्ला नाम]=कोलों की [भूमि] कहते हैं। कोल शब्द का विस्तृत उपयोग किया जाता हैं तथा मुण्डा–कोल जाति के भाग का नाम है। मुण्डा शब्द कोलरियन शब्द का बहिष्कार नहीं कर सका है। 'कोल' शन्द बहुत कम तर्कपूर्ण ज्ञात होता हैं और यह निरर्थक किन्तु प्रचलित 'कोलरियन' शब्द से निकट सम्बन्ध रखता हैं।

कोलों की बोली हिन्द-चीन तथा मलय प्रायद्वीप होती हुई इन्डोनीशिया (सुवर्णद्वीप अथवा मलायुद्वीप) मेलानीशिया [जिसे यूरोपीय लोग कालद्वीप कहते हैं] अथवा पपूवाद्वीप तथा पालीनीशिया [सागर द्वीप] तक फैली है। कोल-भाषाभाषी अब गंगा, ताप्ती तथा गोदावरी नदियों के क्षेत्र के मध्य में [पश्चिमी बंगाल, छोटा नागपुर उत्तरी-पूर्वी मद्रास, मध्य प्रान्त] सीमित हैं किन्तु निरुक्त शास्त्र तथा नृवंशविज्ञान के आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि किसी समय वे गंगा नदी के मैदानों में हिमालय की तराई तक निबास करते थे। कोल जाति निस्संदेह उत्तरी तथा मध्य-भारत के आधुनिक आर्य भाषा–भाषियों का एक आवश्यक अंश है।

२—कोल के अतिरिक्त दो द्राविड़ी बोलियाँ भी, बँगला क्षेत्र के पश्चिम में मिलती हैं।

[क] मल्तो—जो राजमहल की पहाड़ियों के प्रदेश में बोली जाती है; तथा

[ख] कुड़ुख अथवा कूड़ुख अथवा ओराँव [ओरांवें] जो बँगला क्षेत्र की पश्चिमी सीमा को स्पर्श करती है।

द्राविड़ी संस्कृति का मुख्य क्षेत्र दक्षिण में सम्भवत: कावेरी का मैदान है। द्रविड़ों में सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न जातियां थीं। कन्नड़, तेलुगू तथा तामिल-मलयालम बोलने वाली जातियों के सभ्य पूर्वजों से लेकर ब्राहुई,

गोंड, खोंध तथा ओरांव जातियों के निम्नवर्ग के पूर्वजों तक हैं। यह बाद वाला वर्ग आरम्भ के प्राग्द्राविड़ वर्ग, जैसे कोल, का प्रतिनिधित्व कर सकता है जिसने द्राविड़ी भाषा को अपना लिया तथा जो आरम्भ में सभ्य द्राविड़ों से नितान्त भिन्न रहा होगा। यह निश्चित समझा जाता है कि द्राविड़ी बोलने वाले व्यक्ति किसी समय बिलोचिस्तान से बंगाल तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैले होंगे।

प्रोफेसर जाँ सिल्यूस्की [Jean przyuski]* के मतानुसार प्राग्द्राविड़ी सिद्धान्त असामयिक हैं और यह शब्द भी वैज्ञानिक विधि से किसी वास्तविक तथ्य पर स्थिर नहीं है। उनका कथन है कि यह यदि दृष्टिकोण उचित है तो वर्तमान द्रविड़ जातियाँ चाहे मिश्रित वर्णों की ही क्यों न हों, किन्तु उनके पूर्वज दक्षिणी पठार में निवास करने वाले काले वर्ण के व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त जहां तक इनका साहित्य उपलब्ध है वे पहले से भारत में निवास करती थीं—ऐसा निश्चय है। अत: द्रविड़ों के आक्रमण का प्रश्न ही नहीं उठता और प्राग्द्राविड़ शब्द निरर्थक है उक्त विद्वान के मतानुसार भारत की वे प्रारम्भिक जातियाँ जो मुण्डा जाति के सम्पर्क में आने के पूर्व द्राविड़ी भाषायें बोलती थी, उनको मूल-द्रविड़ कहना उचित होगा। आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में कान्तिमान तथा कदाचित पीत वर्ण की त्वचा वाली कोल जातियां थीं जो गहरे काले रंग की तथा मूल-द्रविड़ जातियों से विपरीत थीं। इस प्रकार से उक्त विद्वान अपने मत को पुष्ट करते हैं।

३—उत्तर तथा पूर्व की ओर बँगला भाषा तिब्बत-चीनी (चीन-किरात) परिवार की तिब्बत-बर्मी [किरात स्कन्ध] शाखा की विभिन्न समुदायों के सम्पर्क में आती है। उत्तर में तिब्बती-हिमालयी उपशाखा की लेपचा अथवा रोंग; उसी उपशाखा की सर्वनामाख्यातिक बोलियां धीमाल, लिम्बू और खम्बू जो उत्तरी सिरे पर अल्पसंख्यक व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है; दाञ्जोङ्ग अथवा सिक्किमी और ल्होरवा अथवा भूटानी जो तिब्बती शाखा के निकट सम्बन्ध वाले रूप हैं।

बँगला क्षेत्र के उत्तर-पूर्व तथा पूर्व में बोड़ो समुदाय की बोलियां—बोड़ो [बाड़ा] अथवा कचारी [जो कोच, मेंच और राभा भी कहलाती हैं], गारो, दीमासा तथा म्रुंग अथवा त्रिपुरा मिलती हैं। इनका क्षेत्र नागा समुदाय की बोलियाँ के क्षेत्र को स्पर्श करता है। इसके अतिरिक्त, कूकी-चिन तथा बर्मा समुदायों की मेई-थेई [अथवा मणिपुरी] और लुशेई तथा अराकानी बोलियाँ हैं।

तिब्बत—चीनी (चीन—किरात) तिब्बत बर्मी (किरात स्कन्ध) तथा अन्य भाषाओं के बोलने वाले जो तुलनात्मक रीति से हाल के समय में तिब्बत, हिमालय

---

*Pre-Dravidian or Proto-Dravidian (I. H. Q. Vol. VI 1930)

की दक्षिणी ढालों, आसाम तथा उत्तरी और पूर्वी बंगाल में बस गये। भारत में आर्यों के आगमन के समय (ईसा के १५०० वर्ष पूर्व) ऐसा ज्ञात होता है कि ये यांग-टीसी-क्यांग नदी के उद्‌गम-प्रदेश के आस पास के अपने आदिम स्थान से अधिक पूर्व की ओर नहीं बसे थे। जब तिब्बत-चीनी परिवार की एक शाखा तिब्बत-बर्मी के व्यक्ति भारत की ओर हिमालय पर्वत, नैपाल, उत्तरी बिहार, बंगाल और आसाम में आये तो वे सम्भवत: कोल तथा द्रविड़ जातियों में, जो पूर्व में बसी हुई थीं मिल गये और यह मिश्रित जातियाँ शीघ्र ही गंगा के मैदान की आर्य संस्कृति से प्रभावित हुईं।

तिब्बत-चीनी परिवार के व्यक्तियों की दूसरी शाखा तई अथवा शान ने भारत के उत्तरी-पूर्वी भाग में लगातार अनेक आक्रमण किये जिनमें से तेरहवीं शताब्दी के आसाम के अहोम के आक्रमण के ही विस्तारों का पता है।

तिब्बती-चीनी ज्ञातियां क्षेत्र में बाद को आती हैं। हिन्द-चीन की दो शक्तिशाली जातियों म्रन-मा (=ब्रम्मा, ब्यम्मा अथवा बर्मी जिसका भारतीय रूप ब्रह्म है) तथा तई (जो उनके बर्मी सम्बन्धियों अर्थात रहम अथवा शान, सियम अथवा स्यामी जिनका भारतीय रूप एयाम है, के द्वारा दिये हुए नाम से अधिक प्रसिद्ध है) ने क्रमश: मोन तथा ख्मेर जातियों पर विजय प्राप्त की (यह युद्ध प्रथम ईसवी सहस्त्राब्दी से आरम्भ हुआ तथा अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा)। तिब्बत-चीनी की तिब्बत-बर्मी शाखा का बोड़ो समुदाय (बोड़ो, मेच, कोच, कछारी, राभा, गारो, तिपुरा) आसाम तथा पूर्वी बंगाल में आया और समस्त पूर्वी तथा उत्तरी बंगाल में फैल गया। तिब्बत-बर्मियों के आक्रमण तथा आसाम और पूर्वी बंगाल में बसने का समय अज्ञात है किन्तु वह ईसवी काल के बहुत पूर्व का नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में १७ वीं शताब्दी में आसाम के लोगों के विषय में अनुमति प्रकाशन ध्यान देने योग्य है। दसवीं शताब्दी के पूर्व मुसलमानी बंगाल में बोड़ो जाति की एक शाखा कम्बोजी (कमोच, कबोच, कोच) ने कुछ समय के लिये बंगाल का सिंहासन कम से कम देश के उत्तरी भाग में छीन लिया तथा मुसलमानों के समय में हिन्दू धर्म को स्वीकार करने वाले हिन्दू राजाओं के आधिपत्य में कोचों का उतरी बंगाल तथा पश्चिमी आसाम में एक शक्तिशाली राज्य था जो १७ वीं शताब्दी के मध्य तक रहा। बोड़ो, कोल और द्रविड़ जातियों तथा सम्भवत: उत्तरी बंगाल, आसाम और पूर्वी बंगाल की खासी जातियों से सम्बद्ध मोन-ख्मेर ज्ञातियों का आर्य होना, मध्य तथा उत्तरी बंगाल के आर्य हो

जाने के ठीक बाद में प्रारम्भ हो गया होगा और कल्पित प्राचीनता का दावा करने वाले प्राग्ज्योतित्र तथा कामरूप राज्यों की स्थापना हुई। ह्वेनसांग तथा समसामयिक शिलालेखों के प्रमाणों के अनुसार ७ वीं शताब्दी में आसाम में एक हिन्दू राजा था। भौगोलिक स्थिति से आसाम व्यावहारिक रूप में उत्तरी बंगाल का ही बिस्तार था, जहां तक उसकी बोली तथा प्राचीन इतिहास का सम्बन्ध था। उत्तरी बंगाल तथा आसाम में तिब्बत-बर्मियों का आर्य होना अब भी प्रचलित है तथा एक विद्वान ने कम से कम बँगला के विकास में बोड़ो का प्रबल प्रभाव पाया है।* किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त बातों में प्रभाव की उत्पत्ति, तिब्बत–बर्मी बोड़ो की अपेक्षा, द्राविड़ी बलाघात तथा द्राविड़ी मुहावरों में प्राप्त होती है

४—एक अन्य आदिम भाषा जो उपर्युक्त तिब्बत–बर्मी (किरात स्कन्ध) बोलियों से सम्बद्ध नहीं है, वह है मोनख्मेर वर्ग की खासी बोली जो बँगला के पूर्वी सीमान्त पर बोली जाती है और इस प्रकार पश्चिमी बंगाल की कोल बोलियों से सम्बद्ध है।

मोन ख्मेर समुदाय की जातियाँ किसी समय हिन्दचीन समुदाय पर विजय प्राप्त करके उस पर शासन करती थीं। अब तो थाई देश, ब्रह्म देश तथा भारत के कुछ जंगली भागों में ये जातियाँ निवास करती हैं तथा ये आदिम निवासियों का स्मरण दिलाती हैं। आसाम में मोन-ख्मेर भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाली खासी भाषा खासी पहाड़ियों पर बोली जाती है। यह चारो ओर से तिब्बत-चीनी से घिरी हुई हैं। सदियों यह मोन ख्मेर भाषाओं से दूर पड़ गई है तब भी इसकी शब्दावली तथा वाक्य विन्यास दोनों की ही मोन-ख्मेर भाषा से गहरी समानता है।

आग्नेयदेशी

लोगन (Logan) आदि विद्वानों ने मोन-ख्मेर समुदाय (जो उस समय मोन-अनाम कहलाता था) में सर्व प्रथम एक भाषावैज्ञानिक एकता का निर्देश किया जिसको सन १८८० ई० में कीन (Keane) नामक विद्वान ने एक निश्चित आधार पर स्थिर किया। फोर्ब्स (Forbes) ने तर्क रहित प्रमाणों के आधार पर इस एकता को सिद्ध किया। ** सन १८८८ ई० में मुलर (Muller) ने इसी प्रकार के अध्ययन को कायम रक्खा। कून (Kuhn) ने १८८६ में इस भाषाविज्ञान सम्बन्धी एकता पर जोर देते हुए संकेत किया कि खासी-मोन-ख्मेर के एकाक्षर समुदाय का

*"J. D. Anderson," J. R.A. S.1911 ff 524 ff; and 'People of India' Cambridge, 1933. f 54

**Comparative Grammar of the Languages of Further India'.

कोल्ह, ननकौरी तथा मलक्का की आदिम बोलियों से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

श्मिट (Schmidt) ने कून के कार्य को आगे बढ़ाया और मलय प्रायद्वीप की भाषाओं तथा मोन-ख्मेर समुदाय में सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होंने इन भाषाओं की शब्दावली तथा ध्वनि सम्बन्धी नियमों की समानता का भी अध्ययन किया। तत्पश्चात् उन्होंने खासी के अध्ययन में इन नियमों का प्रयोग किया। खासी के अध्ययन के संकलन में उन्होंने साल्वीन की मध्य घाटी की पलोंग, वा तथा रियाँग भाषाओं का पर्यवेक्षण किया। पलोंग को मोन-ख्मेर परिवार के साथ पूर्व ही लोगन तथा कून ने सम्बद्ध किया था। ग्रियर्सन ने वा तथा रियाँग को भी उसमें जोड़ दिया। वा तथा रियाँग लगभग उसी अक्षांश तक फैली हैं जहाँ तक खासी भाषा।

बाद को श्मिट (Schmidt) ने निकोबारी (नक्कवारी) भाषा का अध्ययन किया और उसके ध्वनिजात के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि यह मोन-ख्मेर परिवार की है तथा उसी समुदाय की अन्य भाषाओं से सम्बन्धित है, यहाँ तक कि स्वरभक्ति तथा व्यंजनभक्ति के विस्तारों में भी एक विशेष प्रकार की समानता है। इसमें धातुओं का य और व में उसी प्रकार विकास होता है तथा तालव्यों को प्रकट करने के वही उपाय हैं जो मोन-ख्मेर भाषाओं में। पद-रचना के सम्बन्ध में यह कई दशाओं में उसके विकास की पूर्व की अवस्थाओं को उपस्थित करती है।

अंत में उक्त विद्वान ने मुंडा भाषाओं से निकोबारी, खासी तथा मोन ख्मेर के सम्बन्ध को सिद्ध कर दिया और साथ ही एक भाषा संबंधी परिवार की स्थापना की जिसे उन्होंने आस्ट्रो-एशियाटिक (आग्नेयदेशी) नाम दिया। उनके मतानुसार इसमें निम्नलिखित समुदाय आते हैं :—

१—मिश्रित समुदाय—चॅम, रदे, जरई, सेदाँग—जो आकृति तथा शब्दावली की परीक्षा करने पर मोन—ख्मेर ही सिद्ध होती हैं; इस समुदाय ने बहुत से शब्दों, यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक सर्वनाम तथा संख्याओं के शब्दों को ग्रहण किया है।

२—मोन—ख्मेर—दो प्राचीन साहित्यिक भाषायें—मोन तथा ख्मेर, बहनार, स्तींग, मोई ज्ञातियों की बोलियाँ, समरेह ख—सो, ख तम्युएन, स्चोंग, हुएई, सुच, सुए, हिन, नहडंग, मि, ख्मुस, लेमेत जो सभी हिन्द-चीन में तथा मलय, बर्सीसी तथा जकुन में हैं।

३—सेनोइ (सकेइ)—सीमाँग (मलक्का में)।

४—पलोंग-वा-रियाँग।

५—खासी

६—नक्वारी (निकोबारी)

७—मुंडा : अथवा कोल–दो उप परिवार अधिक पूर्वीय खेरवारी तथा साथ ही साथ सन्थाली, मुंडारी, भूमिज, बिरहोड़, कोड़ा, हो, तुरी, असुरी तथा कोरवा बोलियाँ तथा पश्चिमी कूरकू, खड़िया, जुआंग, और दो मिश्रित भाषायें सवर और गदब।

मुंडा भाषायें मध्य-भारत के पूर्वार्ध में विस्तृत हैं। द्राविड़ी उसके दक्षिणी भाग में फैली है और कई स्थानों पर उसके क्षेत्र में प्रवेश करती है। यह अब निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि दो समुदायों के मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। हिमालय पर्वत के दक्षिणी सीमान्त पर स्टेन कोनो ने कुछ भाषाओं को खोज निकाला, जो कि किरात स्कन्ध की उत्पत्ति की हैं किन्तु फिर भी उनमें कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जो मुंडा से समानता रखती हैं। वहाँ निस्सन्देह हम मुंडा के अन्तिम चिन्हों को पाते हैं जो किसी समय उस क्षेत्र में वर्तमान थे। इन बोलियों के अधिक पश्चिम की ओर सतलज की घाटी में कनवारी भाषा है, जो सतलज और स्पिति के संगम पर, अर्थात काश्मीर के दक्षिणी सीमान्त पर, बोली जाती है। नैपाल में पूर्व की ओर कनाषी, मंचती, रंगलोई, बुनान, रंकस, दार्मिया, चौदांसी, ब्यांसी तथा धमिल उससे सम्बन्धित हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि मुंडा, मोन-ख्मेर तथा अन्य सम्बद्ध भाषाओं का क्षेत्र वर्तमान काल की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। केवल बाद के समय में यह क्षेत्र कम हो गया और पश्चिम में आर्य तथा द्राविड़ी के द्वारा तथा पूर्व में किरात–स्कन्ध द्वारा विच्छिन्न कर दिया गया।

शिमट (Schmidt) के मतानुसार ऊपर के सात भाषा-समुदाय घटाकर तीन प्रमुख समुदायों में विभक्त किये जा सकते हैं। सन्थाली (अथवा व्यापक रूप में मुंडा), खासी की अपेक्षा मोन ख्मेर से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है। खासी (वा भाषा) और मोनख्मेर–मुंडा के बीच में नक्कवारी मध्य का स्थान ग्रहण करती है। मलय की बेरिसी (तथा जकुन) का, भौगोलिक स्थिति के अनुसार, सेनोइ–सिमाँग की अपेक्षा बाद के समुदाय से अधिक सम्बन्ध है। इसके विपरीत दूसरे परिवार–सेमाँग, तेम्बे, सिनोइ तथा सकेई–में विभाजन स्थापित करना चाहिये। सेमाँग की बोलियों को पृथक करके सेनोइ (सकेइ, तेम्बे) का एक

विशेष तथा स्वतन्त्र समुदाय समझना चाहिये। ये दोनों एक अधिक व्यापक परिवार में सम्मिलित हो सकती हैं, किन्तु यह निर्देश कर देना चाहिये कि सेनोइ, बेरिसी बोली की ओर अधिक झुकी है (और फलत: मोन ख्मेर की ओर) और सम्भवत: सेमाँग के साथ इन बोलियों का मिश्रण उपस्थित करती है। अन्तिम बोली के सम्बन्ध में यह निर्देश कर देना चाहिये कि जिन शब्दों के आधार पर यह मलय की तथा मोन–ख्मेर भाषाओं से भिन्न है, वे अभी तक नहीं खोजे जा सके हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उनमें सेमाँग-नीग्रिटो जातियों की मूल भाषाओं के चिन्ह हों जो अब लुप्त हो गये हैं। यह बात और भी निश्चित हो जाती है जब हम उन विषयों पर विचार करते हैं जिनमें मोन ख्मेर भाषायें परस्पर समानता रखती हैं। ऐसी दशाओं में यह कम सम्भावना रहती है कि सेमाँग भाषा के ये शब्द मोन-ख्मेर-मुंडा-नक्कोबारी-खासी भाषाओं के एक विशेष तथा वृहत् परिवार से उद्धृत हैं। यही स्थिति 'पक्षी' शब्द के साथ है। सेमाँग में एक विशेष धातु 'कौओ' है जब कि दूसरी भाषाओं में एक अन्य धातु 'सिम' है; बच्चे के लिये मोन ख्मेर-मुंडा-नक्कोवारी-खासी आदि में मूल शब्द 'क्वन' है जबकि सेमाँग में 'बं' है; हाथ के लिए सेमाँग में चंस है तथा अन्य भाषाओं में 'तइ' 'ति' शब्द हैं।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात निम्नलिखित विभाजन ठीक जान पड़ता है:–

१—(अ) सेमाँग
(ब) सेनोइ (सकेइ, तेम्बे)

२—(अ) खासी
(ब) नक्कवारी
(स) वा, पलोंग, रिआँग जो मोन ख्मेर से सम्बद्ध हैं।

३—(अ) मोन–ख्मेर (बहनार, स्तींग आदि के साथ)
(ब) मुण्डा अथवा कोल
(स) चेम, रदे, आदि; आग्नेयद्वीपी भाषाओं के साथ मिश्रित।*

आग्नयदेशी तथा आग्नेय

श्मिट (Schmidt) ने अपने अध्ययन को और अधिक विस्तृत करके आग्नेयदेशी परिवार को आग्नेयद्वीपी समुदाय से सम्बन्धित करने का विचार किया जिसमें पूर्णरूप से निश्चित पपूवा–द्वीपी, सागरद्वीपी, सुवर्ण द्वीपी आदि समुदाय सम्मिलित

*P. C. Bagchi—'Pre-Aryan-and Pre-Dravidian in India'.

हैं। उन्होंने इन दोनों विशाल भाषा-समुदायों का अध्ययन किया और उनमें निम्न-लिखित साधारण विशेषतायें खोज निकालीं:—

१—ध्वन्यात्मक व्यवस्था में पूर्ण समानता

२—शब्दों की बनावट में मूल एकता

३—अनेक व्याकरण की आवश्यक विशेषतायें

अर्थात—षष्ठी विभक्ति की बाद की स्थिति, उपसर्गों का प्रयोग और अंशतः सम्बन्ध सूचक रूप, और इनमें से कुछ भाषाओं में व्यक्तिवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष बहुवचन के लिए निवारक तथा सम्मिलित रूप की स्थिति। इनमें से कुछ भाषाओं में द्विवचन तथा त्रिवचन का होना।

४—शब्दावली में अधिक समानता।

इन्हीं चार मूल आधारों पर श्मिट ने आग्नेयदेशी तथा आग्नेय-द्वीपी परिवार में एक अत्यंत विशाल भाषावैज्ञानिक एकता की स्थापना करने का निश्चय किया। इस प्रकार से एक नवीन "आग्नेय" परिवार का निर्माण किया। एम. रिवेट (M. Rivet) नामक विद्वान ने इस परिवार को और अधिक विस्तृत करने की चेष्टा की। उन्होंने इसमें सामुद्रिक समुदाय आस्ट्रेली, पपूवी तथा तस्मानी आदि समुदायों में बोली जाने वाली समस्त भाषाओं को मिश्रित कर दिया।

आग्नेयदेशी तथा भारतीय-आर्य

प्रोफेसर टामसेन (Prof. Thomsen) ने इस बात का दावा किया कि भारतीय-आर्य भाषाओं की संज्ञाविभक्तियों में मुंडा भाषा का प्रभाव कार्य करता है, किन्तु यह प्रभाव प्रो० स्टेन कोनो (Sten Konow) को अनावश्यक प्रतीत हुआ। उन्होंने यह अधिक सम्भव समझा कि द्राविड़ी भाषाओं ने आर्य व्याकरण में सुधार किया तथा मुंडा परिवार ने इस प्रकार द्राविड़ी भाषाओं के द्वारा एक अप्रधान रूप से प्रभाव डाला होगा। किन्तु उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि बिहारी भाषा के कुछ रूप सरलता के साथ मुंडा के प्रभाव के कारण समझाये जा सकते हैं जैसे धातुप्रक्रिया तथा क्रिया का अपूर्व परिवर्तन जब कर्म मध्यम पुरुष एकवचन का सर्वनाम है।

आधुनिक अध्ययनों के द्वारा यह पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि यह प्रभाव पहले भी मिलता है। प्रोफेसर सिल्यूस्की (Prof. Przyluski) ने अपने लेखों में जो आगे दिये गये हैं यह सिद्ध किया है कि संस्कृत के कुछ शब्द आग्नेय-

देशी भाषा परिवार से उद्भूत हैं। प्रो० जूल्स ब्लाक ने अपने "संस्कृत तथा द्राविड़ी" लेख में उन व्यक्तियों की आलोचना की है जो पृथक रूप से द्राविड़ी प्रभाव के पक्ष में हैं और यह सिद्ध किया है कि भारतीय-आर्य में मुंडा के आधार के प्रश्न का त्याग नहीं किया जा सकता।

किन्तु इस समस्या के अन्य दृष्टिकोण भी हैं। यह सिद्ध हो गया है कि केवल भाषावैज्ञानिक ही नहीं बल्कि भारत के प्राचीन इतिहास के कुछ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक तथ्य भी आग्नेयदेशी तत्व को मान कर समझाये जा सकते हैं। प्रो० लेवी ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन भारत के कुछ भौगोलिक नाम जैसे कोसल–तोसल, अंग–वंग, कलिंग–त्रिलिंग, उत्कल–मेकल तथा पुलिंद–कुलिंद जाति सम्बन्धी युगल नाम आग्नेयदेशी भाषा की पदरचनात्मक व्यवस्था द्वारा प्रभावित हैं। अन्य नाम जैसे अच्छ–वच्छ, तक्कोल–कक्कोल इसी श्रेणी के हैं। सन् १९३६ ई० में प्रो० सिल्यूस्की (Przyluski) ने पंजाब की एक प्राचीन जाति उदुम्बर को इसी प्रकार समझकर उसे आग्नेयदेशी परिवार से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया।

कुछ अन्य लेखों में प्रो० सिलुस्की (Przyluski) ने कुछ भारतीय पौराणिक कथाओं पर आग्नेयदेशी प्रभाव सिद्ध किया है। उन्होंने महाभारत में मत्स्यगंधा की कथा तथा भारतीय वाङ्मय में नागी की कुछ पौराणिक कथाओं को पढ़ा और आग्नेयदेशी क्षेत्र में उसी प्रकार की कथाओं से तुलना की।

भारत की आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में भी प्रो० सिल्यूस्की मनोरंजक निर्णयों पर पहुँचते हैं। उन्होंने अपने एक लेख में बँगला के कुड़ी (बीस) शब्द की उत्पत्ति आग्नेयदेशी क्षेत्र से बतलाई है।* एक अन्य लेख में उन्होंने संख्याओं की उत्पत्ति कौड़ियों से निश्चित करने का प्रयत्न किया है।**

उपर्युक्त अध्ययनों के अतिरिक्त जे० हार्नेल ने भारत के दक्षिणी तट की प्राग्द्रविड़ जनसंख्या पर एक प्रभावशाली सागरद्वीपी प्रभाव बतलाया है। उनका बिचार है कि द्रविड़ों के पश्चात मलय जाति की एक लहर आई होगी और यही मलय के लोग द्वीप पुञ्ज से नारियल की कृषि लाये होंगे।

अन्त में डा० जे० एच० हटन ने सन् १९२८ ई० में कलकत्ता के भारतीय अजायबघर में 'आसाम के पाषाण युग के धर्म' पर व्याख्यान देते हुये कहा कि

---

*Bengali Numeration and Non Aryan Substratum.

**The Vigesimal Numeration in India.

इन पाषाण-स्तम्भों के निर्माण करने की विधि बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह संसार के दूसरे भागों के प्रागैतिहासिक स्तम्भों के निर्माण पर प्रकाश डालती है। इस पाषाण धर्म की उत्पत्ति अनिश्चित है किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि यह विशेषत: पूर्व से मोन–ख्मेर के अनधिकृत प्रवेश के फलस्वरूप है। उक्त विद्वान के मतानुसार इन स्तम्भों का निर्माण लिंगम् तथा योनि का रूप धारण करता है।

संस्कृत तथा द्राविड़ी

भाषाओं के विकास में, उनके आधार के प्रभाव के विषय में, एक महत्वपूर्ण उदाहरण भारोपीय परिवार की भारतीय शाखा की कुछ विकृतियों से प्राप्त हो सकता है। व्यंजनों की एक श्रेणी–संस्कृत के मूर्धन्य अन्य दो भाषा परिवारों की ध्वनि व्यवस्था के व्यंजनों से महत्वपूर्ण समानता रखते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आर्य भाषा की नवीनता का आरोप दो आर्येतर भाषा-परिवारों में से किस पर किया जा सकता है? इन दो आर्येतर परिवारों में से एक मुंडा भाषा है जिसका क्षेत्र अब समस्त भारतवर्ष की जनसंख्या का सौवाँ भाग है। दूसरा परिवार द्राविड़ी भाषा का है जो समस्त जनसंख्या के पाँचवें भाग में बोली जाती है। दक्षिणी-द्राविड़ी पुन: प्राचीन सभ्यता का साधन है। उसी परिवार की एक अन्य शाखा ब्राहुई, जो अब सुदूर पश्चिम में बिलोचिस्तान के अन्तर्भाग में वर्तमान है, भारोपीय आक्रमण के पूर्व द्राविड़ी के प्राचीन विस्तृत क्षेत्र का प्रमाण है। उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव के कारण लोग यह सोचने लगे हैं कि द्राविड़ी वह भाषा है जिसका स्थान भारोपीय परिवार ने ले लिया है और इस भाषा की विशेषतायें भारतीय–आर्य की नवीनता को स्पष्ट करती हैं।

ध्वन्यात्मक परिवर्तन के द्वारा किसी भाषावैज्ञानिक आधार का प्रभाव सब से अधिक स्पष्ट रीति से दृष्टिगत होता है। इस प्रकार आर्मीनी भाषा के व्यंजनों की अदृढ़ता काकेशी भाषा से तुलना करके समझाई जा सकती है। इसी भांति भारत की भारतीय-आर्य, द्राविड़ी तथा अफगानी (जो भारतीय-आर्य तथा ब्राहुई से समा-

नता रखने वाली ईरानी भाषा है) में दन्त्य के बाद मूर्धन्य व्यंजनों का एक साथ पाया जाना केवल संयोगवश नहीं कहा जा सकता है।

आर्मीनी तथा भारतीय विषयों की उचित रीति से परस्पर तुलना नहीं की जा सकती। संस्कृत में सम्पूर्ण ध्वनिश्रेणी के स्पष्ट उच्चारण में कोई भी परिवर्तन नहीं है। मूर्धन्य व्यंजनों की श्रेणी दन्त्यों की श्रेणी की सम्पूर्ण विकृति से नहीं निकली है किन्तु उसके साथ ही साथ विकास की कई अवस्थाओं से होकर निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रभाव में आई है। जहाँ तक बहुत प्राचीन काल का सम्बन्ध है, प्रथम प्रश्न दो आर्य श्रेणियों का दो स्थानीय श्रेणियों के अनुकूल बनने का है क्योंकि भारत में दन्त्यों की श्रेणी ने अपने में उस श्रेणी की वृद्धि की जिसका आधार प्राचीन हिन्द-ईरानी की शँ ध्वनि की उपस्थिति पर है। इस शॅ (श) ध्वनि में अन्य व्यंजनों की वृद्धि हुई जो अपने को उसके अनुकूल रख सकते थे। इसके अतिरिक्त, श ध्वनि (ज़) के साथ 'र' ने स्थान लिया और उसी श्रेणी में नये व्यंजनों का समावेश किया। इस प्रकार मूर्धन्य वर्ग बना। बाद को ट और ड, अनुनासिक ण तथा ळ ने विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत प्राचीन स्वरों के मध्य के दन्त्यों का स्थान ले लिया। ऐसा ही साधारणतया मूर्धन्य व्यंजनों का भारतीय-आर्य में इतिहास है। अधिकांशत: यह अपने में ही बहुत पर्याप्त मात्रा में है और द्राविड़ी इस पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डालती। इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में उसका खंडन करती है।

अब हमें इस तथ्य पर आना चाहिए कि मूर्धन्य ळ का रूप, जो कि लौकिक संस्कृत के क्षेत्र से लुप्त हो गया है तथा वैदिक संस्कृत में स्वरों के मध्य में ड का प्रतिनिधित्व करता है, द्राविड़ी में अब भी प्रचलित है। एम० भिलेट के मतानुसार यह केवल एक अप्रचलित रूप था जो कदाचित गंगा नदी के समीपवर्ती स्थानों में आवश्यक था जहाँ पर इसका अभाव था। परन्तु यहाँ पर कुछ और अधिक वास्तविक विशेषतायें हैं।

आदि के संकुचित मूर्धन्य का विस्तार भारतीय–आर्य व्यंजनों के इतिहास में एक अत्यन्त रहस्यमय कार्य है। किन्तु द्राविड़ी आदि मूर्धन्य को कभी स्वीकार नहीं करती। इसके विपरीत, द्राविड़ी अन्त में मूर्धन्य अनुनासिक तथा द्रव वर्ण का प्रयोग स्वीकार करती है जो संस्कृत में अज्ञात हैं।

अत: भारतीय–आर्य भाषा के मूर्धन्य देशी उत्पत्ति के हैं। इसके स्थानीय उच्चारण ने इस वर्ग के विकास को सम्भव कर दिया है और इस कारण से उस

आधार का कार्य अखंडनीय है किन्तु इस सत्य पर तुरन्त दृढ़ हो जाना आवश्यक है कि मुंडा भाषा में भी द्राविड़ी के समान ही दन्त्य तथा मूर्धन्य व्यंजन हैं और इसीलिए संस्कृत के उच्चारण की उत्पत्ति का कार्य मुण्डा अथवा इससे सम्बन्धित किसी भाषा के आधार पर कल्पित रूप से आरोपित करने में कोई भी बाधा नहीं पड़ती।

इसके अतिरिक्त दूसरा सत्य है 'र्' के मूल्य पर ल् का संस्कृत क्षेत्र में विस्तृत विकास जिसका प्रयोग ईरानी के अनुसार वैदिक संस्कृत में व्यतिरेक भाव से होता है किन्तु यह ज्ञात है कि संस्कृत में ल का वास्तव में नवीन प्रचलन नहीं है। इसके विपरीत यह प्राचीनतम वैदिक और ईरानी से भी प्राचीन व्यवस्था वाली बोलियों के साहित्य से हटाये जाने की ओर संकेत करता है तथा यह ईरानी और वैदिक ही हैं जो अपवाद के रूप में हैं और जिनके लिए आधार के विषय में प्रश्न अवश्य उठना चाहिये। यहाँ भी मुंडा भाषा द्राविड़ी की ही भांति 'ल' को धारण करती है।

एक आश्चर्यपूर्ण सत्य जो कि यहाँ पर ध्यान देने योग्य है, वह है संस्कृत के वाक्यों का निरन्तर प्रचलन, जिसने सन्धि के नियमों को विकसित होने का अवसर दिया है, क्योंकि तामिल और कनाड़ी लेखन में एक कड़ी सन्धि व्यवस्था है। किन्तु उन्हीं भाषाओं में उनके उच्चारण में उन पर ध्यान नहीं दिया जाता। गोंडी और कुरुख भी इस पर ध्यान नहीं देती हैं और जहाँ तक कि ये साहित्यिक भाषायें इस सन्धि को स्वीकार करती हैं, वह निश्चित रूप से संस्कृत के प्रभाव के कारण है और संस्कृत में भी यह सम्भव है कि प्रसंग के नियम, विस्तार में तथा वास्तविक प्रयोग में अतुलनीय हैं। अशोक ने उन पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है।

अत: किसी भी प्रकार से प्राचीनकाल में भारोपीय परिवार पर द्राविड़ी का क्या प्रभाव था इसका कोई स्पष्ट तथा ध्वन्यात्मक प्रमाण न मिल सका। कुछ नियमों की अभी हाल ही में खोज हुई है। वर्तमान समय में दोनों के क्षेत्रों के सीमान्तों पर इनमें कुछ समानता मिल सकती है किन्तु इस प्रकार के आधुनिक तथा स्थानीय तथ्यों और एक भाषा परिवार का दूसरे पर, आर्यों के भारत में प्रविष्ट होने पर, जिस प्रभाव का अनुमान किया गया है दोनों में बड़ा अन्तर है।

इस प्रकार ध्वनिजात उस पर किसी प्रकार का भी स्पष्ट प्रकाश नहीं डालता। पदरचना अवश्य ही और भी कम प्रकाश डालेगी क्योंकि भाषाओं के निर्माण के

समय व्याकरण के नियम ध्वन्यात्मक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक उद्धृत करते हैं। इन सबके अतिरिक्त क्या भारतीय आर्य में कुछ ऐसे अपवादात्मक सत्य हैं जो कि कुछ विशेष व्याकरण के प्रयोगों को प्रकट करते हों तथा जो पूर्ण व्यवस्था के नष्ट होने पर भी अवशिष्ट रहे हों ?

वेदों की क्रियात्मक व्यवस्था का ह्रास और संज्ञा शब्दों की पदरचना का विस्तार द्राविड़ी के कार्य कहे गये हैं परन्तु यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि द्राविड़ी भाषा के नियम समस्त कालों के लिए समान हैं और संस्कृत में तो केवल भूत काल का ही लोप हो गया है। जहां तक कि परोक्षभूत से सम्बन्ध है, यह पूर्णतया शुद्ध प्रकार से कहा जा सकता है कि द्राविड़ी भाषा द्विगुण (दोहराव) को अस्वीकार करती है। भारतवर्ष में पूर्वी भाषाओं में केवल लिंग का लोप हो गया है और वास्तव में केवल वहीं पर निस्संदेह तिब्बती-बर्मी के कार्य का प्रश्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पदरचना के द्वारा भी यह विषय पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होता है।

अत: कोई भी व्यक्ति संस्कृत के द्राविड़ी तत्वों को खोजने के लिये स्वयं ही शब्द-भंडार की ओर जायगा। किन्तु शब्द भंडार का इतिहास ध्वन्यात्मक अथवा व्याकरणात्मक विकास से बिल्कुल भिन्न है; तथा आधारिक सत्यों से गृहीत शब्द भी बिल्कुल भिन्न हैं।

विज्ञान की वर्तमान स्थिति में कोई बात ऐसी नहीं है जिससे हम यह दृढ़ता के साथ कह सकें कि भारतवर्ष में आर्य भाषा ने जो रूप धारण किया है वह इस भाषा के द्राविड़ी-भाषियों द्वारा अपनाये जाने के कारण है। यदि कोई भाषा का आधार स्तम्भ है भी तो उसकी खोज अन्य परिवारों में विशेषत: मुंडा में भी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त शब्द समूह के द्वारा संस्कृत तथा द्राविड़ी बोलने वाली जनसंख्याओं के प्राचीन सम्बन्धों का प्रमाण मिलता है।

अन्य भाषाओं से शब्दों का ग्रहण

विविध भाषाभाषियों का पारस्परिक सम्बन्ध प्राचीन काल से ही रहा है। इस सम्पर्क के फलस्वरुप एक भाषा के शब्दों का दूसरी भाषा के शब्दों पर प्रभाव स्वाभाविक है। कभी कभी तो किसी भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिये

जाते हैं। वर्तमान काल में ही अँग्रेजों के सम्पर्क से बहुत से अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग हिन्दी आदि देशी भाषाओं में इतनी स्वतन्त्रता से होने लगा है मानो वे उन्हीं भाषाओं के शब्द हों। उदाहरणार्थ—अँग्रेजी के स्कूल, स्टेशन, प्लेटफार्म आदि शब्द। इसी प्रकार जब आर्य लोग भारत में आए तो उन्होंने बहुत सी आर्येतर जातियों के शब्दों को अपनी भाषा में ग्रहण किया। इसके विपरीत बहुत से आर्यों के शब्द आर्येतर भाषाओं में अपनाये गये।

अत: जब हम दो भाषाओं के शब्दों में समानता देखते हैं तो हमारे सामने यह प्रश्न आ जाता है कि किस भाषा ने दूसरी भाषा के शब्दों को ग्रहण किया अथवा वे दोनों भाषायें एक तीसरी भाषा से प्रभावित हुईं ? कभी कभी इस समस्या को सुलझाना बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि इसका हमें कोई निश्चित आधार नहीं मिलता है। श्री जयनाथ पति ने इस सम्बन्ध में कतिपय नियमों का उल्लेख किया है। वे नियम बहुत ही साधारण हैं और आसानी से समझ में आ जाते हैं, किन्तु उन नियमों का पर्याप्त मात्रा में अनुगमन नहीं किया गया जिससे उनका उचित रूप से प्रकाशन होता। वे नियम इस प्रकार हैं:—

प्रथम नियम

जब एक भाषा किसी अन्य भाषा से कोई शब्द ग्रहण करती है तो शब्द में ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं कि वह ग्रहण करने वाली भाषा में पूर्णरूप से मिल जाता है।

इसे प्रकृतीकरण (Naturalisation) का नियम कहना उचित होगा। यह प्रथम नियम दो उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(अ) उन परिवर्तनों के सम्बन्ध में जो प्राकृतिक कारणों से हैं।

(ब) प्रकृतीकरण (Naturalisation) की प्रणाली में उन अन्य परिवर्तनों के सम्बन्ध में जो समान कारणों से होते हैं–अर्थात् स्वररचना की प्रकृति। उदाहरणार्थ कुछ ध्वनियों व संयुक्त वर्णों के उच्चारण की असमर्थता।

१ (अ) उदाहरण—मूर्धन्य वर्ण जो हिन्द-ईरानी शाखा की भाषाओं की भिन्नता प्रकट करने वाली विशेषता है, वह अन्य आर्य भाषाओं में पूर्णरूप से अनुपस्थित हैं तथा द्राविड़ी भाषाओं का एकाधिकार नहीं हैं किन्तु अन्य तातारी भाषाओं में भी प्राप्त होते हैं जैसे वे भाषायें जिन्होंने सिन्धी पर प्रभाव डाला। इस प्रकार वह जाति जिसकी भाषा भारतवर्ष में आर्य हो गई थी, उस समय द्राविड़ी-भाषी नहीं थी।

---

* The Law of Loan in Languages (Journal of Bihar and Orissa Research Soceity Vol 9)

द्राविड़ी भाषाओं में 'औ' नहीं होता। अत: जब संस्कृत के दो स्वरों से मिश्रित उच्चारण वाले शब्द ग्रहण किये जाते हैं तो उसके अ और उ मूल अवयव मधुर उच्चारण वाले व्यावहारिक 'व' के साथ, अलग कर दिये जाते हैं—यथा संस्कृत का सौख्यम, और तामिल का सवुक्कियम्। तामिल-भाषी आदि र अथवा स का सरलता से उच्चारण नहीं कर सकते; अत: संस्कृत के र अथवा स वर्ण से आरम्भ होने वाले शब्दों के पूर्व उनकी भाषा में एक स्वर लगा दिया जाता है। उदाहरणार्थ–संस्कृत का राजन् शब्द तथा तामिल भाषा का इराशन् अथवा इरायन् व अरयन्, संस्कृत का रेवति तथा तामिल का इरवत्ति, संस्कृत का रक्त तथा तामिल का इरत्तम, अरत्तम, संस्कृत का रव तथा तामिल का अरवम, संस्कृत का लोक तथा तामिल के उलोगम, उलगम, उलगु।

१ (ब) यदि किसी भाषा में कोई एक विशेष ध्वनि वाला स्थानीय शब्द नहीं होता है और वह उस ध्वनि वाले किसी शब्द को दूसरी भाषा से ग्रहण करती है तो वह विशेष ध्वनि निकटतम किन्तु साधारणतया कम कठिन ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है (बहुधा उस भाषा के एक ही वर्ग में)—जैसे ऋ से इरि, क़ से क, ख़ से ख, ग़ से ग, क्—ग्, ग्—ज, च्—श्, ज्—श्, ज़—ज, श—स।

द्राविड़ी (विशेषत: तामिल और मलयालम) उग्री (फ़ीनी, लैपी इत्यादि) तथा बेहिस्तून शिलालेख के शकी अनुवाद में केवल अघोष से ही शब्द आरम्भ होता है जबकि या तो सघोष अथवा द्वित्व अघोष का उच्चारण मध्य में किया जाता है। अत: जब ये भाषायें कोई ऐसा शब्द ग्रहण करती हैं जो इस नियम के अनुसार नहीं होता है तो उसमें संशोधन कर लिये जाते हैं। संस्कृत–दंतम्, तामिल–तंदम्; संस्कृत भाग्य तामिल पाक्कियम्, संस्कृत मंडप, तामिल मंडबम्; संस्कृत–अन्त, तामिल अंदम्; संस्कृत लोक, तामिल उलोगम्। द्राविड़ी भाषाओं में महाप्राण नहीं होते; अत: संस्कृत का सौख्यम् तामिल भाषा में सवुक्कियम् होता है। तुद के अतिरिक्त समस्त द्राविड़ी भाषाओं में डा० काल्डवेल (Dr. Caldwell) के अनुसार फ अपरिचित है तथा अंग्रेजी भाषा से गृहीत शब्दों में फ के अतिरिक्त प हो जाता है। तामिल का एक भ्रमात्मक शब्द शेबम् (प्रार्थना) है, जो संस्कृत के जप् से गृहीत है, शेवा (सेवा) से नहीं।

द्वितीय नियम

जब कभी एक भाषा अन्य भाषा से किसी शब्द को ग्रहण करती है तो गृहीत शब्द ग्रहण करने वाली भाषा में पूर्व से वर्तमान समान ध्वनि वाले अथवा निकटतम तुकबन्दी वाले शब्द से प्रभावित होता है जिसके फलस्वरूप गृहीत शब्द ध्वनि

में आकृष्ट करने वाले शब्द अथवा शब्दों से या तो (१) कुछ वर्णों को निकाल कर अथवा (२) अपने में कुछ अन्य वर्ण मिलाकर लगभग समान हो जाता है।

इसे हम स्वरों का मिश्रण कह सकते हैं। मैक्समुलर नामक विद्वान इसे निर्मूल अथवा शैशवीय समता कहते हैं, किन्तु इस पर पर्याप्त मात्रा में ध्यान नहीं दिया गया है। ध्वनि–विज्ञान के विद्यार्थियों को यह विदित है कि जब दो पदार्थों से समान ध्वनि की उत्पत्ति होती है तो किस प्रकार एक को ध्वनित करने पर दूसरे से समान ध्वनि निकलती है। मनोविज्ञान में हम विचार विनिमय का नियम पाते हैं—एक बाह्य विचार मस्तिष्क में पूर्व से वर्तमान, समान विचारों को लाता है। संगीतज्ञों को यह विदित है कि किसी स्वर को निकालना उस दशा में कितना कठिन है जब कि एक भिन्न प्रकार का स्वर निकाला अथवा गाया जा रहा हो। कदाचित (अच्छी या बुरी) संगति का नैतिक प्रभाव इसी प्रकार के किसी नियम के लागू होने के कारण होता है। अत: यदि हम शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक संसार के नियमों से समानता रखने वाला कोई नियम भाषा के क्षेत्र में पाते हैं तो हमें आश्चर्य चकित नहीं होना चाहिये वरन् मनोविज्ञान इसकी आवश्यकता पर संकेत करेगा। आत्मविद्या द्वारा इसका कारण अधिक स्पष्ट रीति से समझाया गया है। अपरिचित को परिचित रूप में ले आना, अर्थरहित को अर्थ पूर्ण बनाना, मनुष्य के मस्तिष्क के स्वभाव के अन्तर्गत है। इसको कार्यान्वित करने में वह किसी प्रकार की आपत्ति की उपेक्षा नहीं करता है। सर्व प्रथम किसी अपरिचित शब्द को सुनकर विचार–विनिमय के नियम द्वारा निकटतम परिचित शब्द स्मरण हो आता है तथा अपरिचित को पुन: उत्पन्न करने में वह यथासाध्य स्वरों और व्यंजनों को जोड़कर, घटाकर, विस्तृत तथा संकुचित कर निकटतम रूप बना देता है। इसका प्रभाव भाषा के भौतिक परिवर्तनों में स्वीकार कर लिया गया है।

नियम द्वितीय (अ)

ऐज़न (اَیزَن) शब्द से हमे ऐजन रूप प्राप्त होता है। तत्पश्चात अँग्रेजी के एन्जिन शब्द से इनजन, अंजन ऐसे अनुस्वार युक्त रूप प्राप्त हुए (१ (ब) तथा २ (अ) के द्वारा) तो प्रथम रूप के बाद वाले रूप में मिल जाने से ऐंजन शब्द भी हो गया किन्तु अँग्रेजी का इन्जीनियर शब्द इनजीनिअर रहा, सस्पेन्ड शब्द सिस-पिंज हो गया (समानता सीस और पंजा)। बेसनगर के पाली शिला लेख में ऐन्ति-यालकिडस शब्द अन्त तथा लिखित से प्रभावित होकर अंतलिकितस् हो गया। ग्रीक-होरस, संस्कृत होड़ा (समानता षोडश, किंतु उपर्युक्त समानता का शब्द ऐति-

हासिक दृष्टि से थोड़ा होगा क्योंकि जब यह शब्द ग्रहण किया गया था तब प्राकृत बोली जाती थी, अत: इस शब्द ने इसे अवश्य प्रभावित किया होगा।

नियम द्वितीय (ब)

स्वरों के मेल में, युक्ति विरुद्ध व्यंजन जोड़ दिये जाते हैं, यदि जोड़ने से किसी प्रकार वक्ता को किसी परिचित वस्तु की ओर संकेत होता है। जब सर्व प्रथम नवदह तहसील में सहकारी समितियाँ निर्मित हुईं तो ग्रामवासियों ने सोसाइटी शब्द का उच्चारण सुरसुरी शब्द में किया। वे इसी शब्द से प्रभावित थे जिसका अर्थ नाक में एक विचित्र प्रकार की हलचल है। आजकल वे अधिकतर उसे सुसैटी कहते हैं। अंग्रेजी शब्द जनरली से हम जरनैली, जनरल से जरनैल पाते हैं (समानता करनल से करनैल)। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक शब्द छोड़ दिया गया है और अन्य शब्द जोड़ दिया गया है अथवा इसका क्रम बदल दिया गया हो। बो—बाजार—बहु बाजार, पालकी से पैलैंक्विन। ऐसा कहा जाता है कि यह पलँग शब्द से उद्धृत है अथवा अधिक निकट समानता के लिए संस्कृत का पल्यंक शब्द लाया जाता है। किन्तु यह शब्द आधुनिक समय में अँग्रेजी वर्ग में आ गया है तो यह हिन्दी से उद्धृत होगा। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द के निर्माण में फ्रेन्च भाषा भी सहायक हुई है क्योंकि इस शब्द के बनने में बैल्डकें शब्द से सहायता ली गई है जो कि फ्रेंच भाषा का है।

तृतीय नियम

यदि किसी भाषा के मूल का निर्णय उसके आन्तरिक विकास के स्थापित नियमों के द्वारा उसकी कोई भी धातुओं से नहीं हो सकता तो वह किसी भिन्न भाषा से उद्धृत शब्द है।

इसे स्वयंसिद्ध प्रमाण भी कहा जा सकता था यदि इसकी गम्भीरता के कारण इसकी शुद्धता के विषय में बहुत से प्रत्यक्ष संदेहपूर्ण तर्क न होते। बहुधा देखा जाता है कि प्रसन्नचित्त ग्रामीण अपने एक सम्बन्धी से, जिससे वह रीति रिवाज के अनुसार उपहास कर सकता है, गाँव का नाम पूछता है। दूसरा व्यंगात्मक भाषा में प्रश्नकर्ता के ही गाँव का नाम बतलाता है। प्रथम व्यक्ति तुरन्त उससे पिता का नाम पूछता है, दूसरा व्यक्ति इस पर लज्जित हो जाता है। तब चारों ओर से नटखट बालक हँसते हैं और आश्चर्य प्रकट करते हुये चिल्लाते हैं "पकड़ गया, फँस गया"। इस नियम का भी सिद्धान्त ऐसा ही है, केवल यहाँ पर वह हल्कापन नहीं है।

सम्भवत: इस विषय में एक विरुद्ध वचन यह हो सकता है कि यह सब उदा-

हरणों में लागू नहीं होता। अग्नि तथा अन्य ऐसे शब्दों के मूल का निर्णय किसी भी संस्कृत की धातु से नहीं होता। तो प्रश्न उठता है कि क्या यह भी उद्धृत शब्द है? बहुत सम्भव है ऐसा ही हो। भाषावैज्ञानिकों के मतानुसार ये शब्द आर्य भाषाओं की उपस्थिति के पूर्व वर्तमान थे जिनमें भी इन शब्दों का अर्थ लगभग समान ही था।

यहाँ पर स्थानीय संस्कृत शब्द का द्राविड़ी भाषा के गृहीत शब्द से अन्तर बतलाने के लिये डा० काल्डवेल (Caldwell) की परीक्षाओं का प्रसंग देना असंगत न होगा। वे निम्नलिखित हैं:—

१—जब कोई संस्कृत का शब्द बिना किसी धातु या मूल के अकेला होता है, किन्तु द्राविड़ी भाषा में सम्बन्धित शब्दों से घिरा होता है।

२—जब संस्कृत में एक ही भाव को प्रकट करने वाले अन्य शब्द होते हैं तथा द्राविड़ी भाषाओं में केवल प्रसंग वाला ही शब्द होता है।

३—जब भारोपीय कुल की किसी भाषा में संस्कृत से सम्बन्धित शब्द नहीं मिलता है, किन्तु द्राविड़ी कुल की प्रत्येक भाषा में प्राप्त होता है, वह चाहे कितना भद्दा ही क्यों न हो।

४—जब संस्कृत कोषकारों द्वारा की हुई शब्द-व्युत्पत्ति प्रकट रूप से काल्पनिक होती है, किन्तु द्राविड़ी कोषकार किसी ऐसी समान महत्व वाली स्थानीय धातु से परिणाम निकालते हैं जिससे विभिन्न शब्दों की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

५—द्राविड़ी के शब्द का महत्व वास्तविक रूप से भौतिक तथा स्वाभाविक है, जब कि संस्कृत सम्बन्धी शब्द का महत्व कल्पित अथवा केवल समकक्ष है।

६—जब कि स्थानीय तामिल तथा तेलुगू के विद्वान संस्कृत को देववाणी तथा सम्पूर्ण साहित्य की जननी होने की अन्य कल्पना करने पर भी प्रसंग के शब्द का विभाजन द्राविड़ी भाषा का करते हैं। जब इनमें से कोई कारण दृष्टिगत होता है और विशेषत: जब उनमें से कई अथवा सब परस्पर मिल जाते हैं तो हम सुरक्षित रूप से इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि प्रसंग का शब्द संस्कृत मूल का नहीं बल्कि द्राविड़ी भाषा का है। निम्नलिखित उदाहरणों से उपर्युक्त निरीक्षण के नियमों की पुष्टि हो जायगी।

द्राविड़ी तथा संस्कृत—अक्का (माँ), अत्ता, अत्ति (माँ, बड़ी बहिन, माँ की बड़ी बहिन), अटवि (वन—संस्कृत के विद्वान इसकी मूल धातु 'अट्' बतलाते हैं) किन्तु अड़ शब्द का अर्थ सामीप्य है जो विशेषत: द्राविड़ी शब्द है। केल-वि

(श्रवण करना) द्राविड़ी के केल (सुनना) शब्द से है; अणि (गाड़ी की कील), अम्बा, अंब (माता, पिता) अलि, कटुक, कटु (कड़ुवा—गलती से इसकी मूल धातु संस्कृत के 'कट्' शब्द (जाना) से बताई जाती है। कला, कुटि (झोंपड़ी), (तामिल कुडि--गृह); कूल; नीर (जल--द्राविड़ी नीर, नीरु—द्राविड़ी में जल के लिये केवल यही शब्द है); मीन--मछली (संस्कृत के विद्वान इसकी मूल धातु मी--'दु:ख देना,' बतलाते हैं किन्तु यह शुद्ध नहीं हो सकता। इसकी व्युत्पत्ति द्राविड़ी की 'मि' धातु (चमकना) अधिक सरल तथा सुन्दर है; द्राविड़ी 'मीन्'—(तारा) अडुमीन (सप्तर्षि नक्षत्र)। इसके अतिरिक्त द्राविड़ी में केवल मीन शब्द ऐसा है जिसका अर्थ मछली है जबकि संस्कृत में मत्स्य शब्द भी है। मलय की मूल धातु संस्कृत की 'मल्' धातु (रखना, पकड़ना) कही जाती है किन्तु द्राविड़ी के मल, मलेइ (पहाड़ी, पर्वत) के सामने यह असंगत है। अत: इसकी उत्पत्ति संस्कृत की अपेक्षा द्राविड़ी से अधिक उपयुक्त है।

नियम तृतीय (अ)

डा० काल्डवेल (Caldwell) के उद्धरण में यदि हम 'संस्कृत' के स्थान में 'एक भाषा', 'पूर्व भाषा'; 'द्राविड़ी भाषा' के स्थान पर 'अपर भाषा, पर भाषा'; 'संस्कृत से सम्बन्धित भारोपीय भाषायें' के स्थान पर 'भाषायें' 'पूर्वभाषा की सम्बन्धित भाषायें'; 'प्रत्येक द्राविड़ी बोली' के स्थान पर 'पर भाषा की प्रत्येक बोली' तथा शेष में इसी प्रकार के अन्य परिवर्तन कर दें तो हम निम्नलिखित सप्तम वाक्यांश को जोड़कर उसे विश्व के प्रयोग में ला सकते हैं। प्रत्येक दशा में इसको तृतीय नियम के अन्तर्गत समझना चाहिये—

७—पर भाषा जब पूर्व भाषा के परिवार की होती है तथा पूर्व वाली भाषा में कोई ऐसा शब्द होता है जो बादवाली भाषा में भी पाया जाता है, किन्तु पूर्वभाषा के शब्द का रूप दो भाषाओं के तुलनात्मक भाषा–शास्त्र के स्थापित नियम का उल्लंघन करता है। उदाहरणार्थ, जर्मन भाषा का कैसर, लैटिन का सीज़र—इन परीक्षाओं के अनुसार वेदों का मना शब्द, लैटिन का माइना, ग्रीक का म्ना, ये सब सामी कुल के शब्दों अथवा अधिक शुद्ध रीति से सुमेरी कुल से गृहीत किये गये हैं।

चतुर्थ नियम

व्याकरण के व्यवहारों में गृहीत शब्द साधारणतया उन स्थानीय शब्दों में, प्रयुक्त शब्दों के नियमों का पालन करते हैं जिनसे वे वाह्य रूप में निकटतम समा-

नता रखते हैं अथवा भाषा के किसी अपूर्व ग्रहण किये हुए स्वभाव के द्वारा व्यवस्थित होते हैं।

अपवाद

कभी कभी विद्वान लोग व्याकरण के वाह्य रूपों को भी शब्दों के साथ प्रयुक्त कर अव्यवस्थित बातों को स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं।

उदाहरण

संस्कृत व्याकरण–शास्त्र के विद्वानों ने बहुत कम किसी शब्द को विदेशी बतलाया है क्योंकि उनका अनुमान था कि वे जितने शब्द जानते थे उनमें से प्रत्येक के लिए संस्कृत की मूल धातु का पता लगा सकते थे। अत: उन्होंने विदेशी शब्दों का पृथक व्यवहार नहीं किया। किन्तु संस्कृत साहित्य से जो कुछ झलक मिल सकती है उससे नियम का अपनाना ही प्रतीत होता है—जैसे ऋगवेद के मना शब्द का अनुगमन हिरण्यया शब्द के द्वारा किया जाता है। अत: देखने में तृतीया का रूप है और इसीलिये इसका प्रयोग अकारान्त किया गया है। इसी प्रकार 'वाराहमिहिर' के 'वृहज्जातकम्' (अध्याय–१ प्रतियाँ ३, ८, १८ अध्याय ११, ५२) में ग्रीक शब्दों का व्यवहार किया गया है:—

' तौक्षिक आकोकेरो ह्रद्रोगश्च; हेलि: सूर्य: '।

द्वितीय भाग

[वैदिक एवं लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत
भाषाओं में आर्येतरांश]

वृक्ष, फल, पशु आदि के नाम तथा अन्य प्रचलित शब्द

जब आर्य लोग सम जलवायु के भागों से आकर उष्ण जलवायु वाले भारतवर्ष में फैल गये, तो उनकी शब्दावली में इस नये देश के बहुत से पौधों, पशुओं तथा अज्ञात उपजों के लिए कोई शब्द न थे। तर्क के पश्चात यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने उन जनसमुदायों की भाषाओं से महत्वपूर्ण शब्दों को ग्रहण किया जिनके सम्पर्क में वह सर्व प्रथम आये। यहाँ पर कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

कदली

स्कीट (Skeat) तथा ब्लैगडेन (Blagden) नामक विद्वानों ने मलय प्रायद्वीप की भाषाओं तथा उनसे सम्बद्ध अन्य भाषाओं में आने वाले 'केला' के सभी नामों का विभाजन कर दिया है। उनकी प्रशंसनीय तुलनात्मक शब्दावली निम्न प्रकार से है:—

केला—कॅलुइ ? (गेलुॅई अथवा ग्लुइ), तॅलुवि अथवा कॅलुवि, तॅलूइ, (तेलुइ); (तेलोनिल्ले) [? तेलौइल्ले के लिये छापे की अशुद्धि], तोंलोउइं, (त्लोउइ) तेलुइ, तेलोइ, तेलेइ, तेलेइं तेलि, तेलइ, तेली, तेलू ; तॅलाय, तॅलइ, त्लाइ, त्लाय, त्लइ, तॅ–ज़े , क्ले, तेलेइ मस, तेलुइ पुंतुक, तेलुइ जेलेइं [अर्थात जेलइ का]; [दक्षिणी निकोबार—तलूइ 'केला', ख्मेर–तुत तलोइ (तोउत तलोइ) 'कदली वृक्ष' (तुत का अर्थ 'वृक्ष' प्रतीत होता है; पलौंग–क्लोअइ 'केला']

ये सब रूप प्रारम्भिक 'ल' वाली एक धातु उपस्थित करते हैं जो गूढ़ स्वर-भक्ति के तत्व से पूर्ण है जिसमें साधारणतया इ प्रकट होता है। इस धातु के पूर्व में एक उपसर्ग होता है जो कभी कभी मात्रा के साथ होता है के–, गे–, त–, तों– तॅ– तथा कभी कभी क्–ग्–त्–ही रह जाते हैं। यह सम्भव है कि उपसर्ग के मात्रिक रूपों के–, तों–, तॅ– में पूर्व से ही क–, त–, के रूप हैं जो अधिक अप्रचलित हैं तथा बहुधा आग्नेयदेशी भाषाओं में पाये जाते हों। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत

होता है कि प्रारम्भ में धातु में दीर्घ ई थी जो विभिन्न रीतियों से द्विस्वरसंधियों में परिवर्तित हो गई। अत: हम कदली के दो प्राचीन रूपों कली तथा तली को पा सकते हैं।

संस्कृत में हम कदली तथा कंदली शब्द पाते हैं जिन दोनों का अर्थ केला तथा केले का वृक्ष है। ये रूप भारोपीय परिवार में अस्पष्ट हैं किन्तु यदि हम क-ली रूप का आधार लें तो इन शब्दों की उत्पत्ति का ज्ञान हो सकता है। ऐसा प्रकट होता है कि कदली का साधारण अन्त: प्रत्यय-द-,तथा क-न्-द-ली का द्वित्व अन्त: प्रत्यय-न्-द-, उपसर्ग तथा धातु के मध्य में रखे गये हैं। द् (अ)-, तथा -न्-द् (अ)-अन्त: प्रत्ययों की उपस्थिति पूर्व ही आग्नेयदेशी भाषाओं में मान ली गई है किन्तु उनके कार्य की व्याख्या अभी तक नहीं की गई है।

कदली तथा कंदली के अतिरिक्त भारतीय-आर्य में निस्सन्देह एक तीसरा रूप 'तंदली' था। वास्तव में बुद्ध के द्वारा भिक्षुओं के लिये अनुमति दिये हुये आठ प्रकार के पेय पदार्थों में से एक कोकपान है। 'महावग्ग' की टीका (६, ३, ५, ६) के अनुसार कोक एक प्रकार का कदली रहा होगा और कोकपान का अर्थ केले का शर्बत होगा। "यि-त्सिंग" (Yi-tsing) ने कोक का अर्थ तं-द-ली बतलाया है। यह तंदली शब्द त-ली के आधार पर उसी प्रकार समझाया जा सकता है जैसे क-ली के आधार पर 'कंदली'

बाल-, कम्बल-, शिम्बल-

सुदूर पूर्व की भाषाओं में मनुष्यों तथा पशुओं के बाल का अर्थ प्रकट करने वाले शब्दों में से निम्नलिखित शब्दों का प्रसंग दिया जा सकता है:—

मलय—बुलु
चॅम—बलॅउ
जरॅ ई—बों लाउ
बतक, दयक—बुलु
दगल—पोलोक
मलगसी—वोलो।

समान धातु से हिन्द-चीनी भाषाओं के "रुई" के नाम समझाये जा सकते हैं:—

जरॅ ई—कों पल
सेक—कों पल
अनामाइट—वइ
लौशी—फ़ाय

जरं ई तथा सेक में धातु के पूर्व 'को' उपसर्ग है। अनामाइट तथा लौशी में अन्त का द्रव वर्ण, य में परिवर्तित हो जाता है जैसे बहुधा आग्नेयदेशी भाषाओं में होता है।

अतः इन रूपों की उत्पत्ति के लिये हम बल, बुलु धातु का अनुमान कर सकते हैं जिसका अर्थ "बाल, ऊन" है। संस्कृत में हम बाल-, वाल-, वार शब्दों को पाते हैं जिनका यही अर्थ है। शब्द प्राचीन है तथा वार शब्द पूर्व से ही ऋग्वेद (२, ४, ४) में पाया जाता है। बाल, वाल में ल की उपस्थिति प्रचलित रूप की ओर संकेत करती है तथा आर्येतर शब्दों के साथ समानता, जिसका प्रसंग दिया जा चुका है, आग्नेयदेशी उत्पत्ति बतलाती है। शब्द का ग्रहण, जादू तथा सर्वमान्य धर्म में ऊन और बालों के महत्व के कारण स्पष्ट किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस विषय में भारतीय विचार सदा आदिम जनसंख्याओं के विश्वासों द्वारा प्रभावित रहे हैं। उदाहरणार्थ बुद्ध के बालों की आराधना का प्रसंग दिया जा सकता है। राम के पुनीत कथानक में सुग्रीव के भाई प्रसिद्ध वानरराज बालि के नाम का आधार इस तथ्य पर था कि वह अपनी माँ के केशजाल से उत्पन्न हुआ था।

बाल—की आग्नेयदेशी उत्पत्ति संदिग्ध रहती, यदि संस्कृत का यह शब्द उस समुदाय का एक अंग न होता जिसके अन्य तत्व निश्चित रूप से आर्येतर हैं। हम अभी देखेंगे कि कम्बल, साम्बल शब्द बाल शब्द से पृथक नहीं किये जा सकते और ये भारतीय—आर्य परिवार के लिये विदेशी हैं।

ऐसा संदेह हो सकता था कि आग्नेयदेशी 'बल' धातु से "रोयेंदार जीव" अर्थ वाली संज्ञा बनाने के लिये इसमें क+अनुनासिक जैसे उपसर्ग होंगे। अतः संस्कृत में मोनियर विलियम्स की परिभाषा के अनुसार, एक प्रकार के हिरन अथवा अधिक स्पष्टतया "रोयेंदार खाल वाले एक प्रकार के हिरन" के अर्थ वाले "कम्बल" शब्द को पाकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। जैसा कि कोई भी देख सकता है, पशु का वर्णन, उसके नाम के शब्द साधन से समानता रखता है।

इससे "कम्बल" शब्द का ऊनी माल के लिये प्रयोग सरल किया जा सकता है। "ऊनी माल" के अर्थ में "कम्बल" शब्द अथर्ववेद (१४,२,६६,६७) में मिलता है। यह शब्द निस्सन्देह आर्येतर उत्पत्ति का है तथा संस्कृत शब्दावली में इसका प्रवेश अथर्ववेद के सम्पादन के पूर्व ही हो गया था।

दूसरी ओर "रेशम के वृक्ष" का नाम पाली में सिम्बली अथवा सिम्बल तथा

संस्कृत में शाल्मली अथवा शाल्मल है। यहां पर कोई भी "बल" धातु को पहचान सकता है जो कुछ आग्नेयदेशी भाषाओं में रुई अथवा रुई के पेड़ के नाम का एक अंश है।

पाली की धातु में "सिम्" उपसर्ग है जैसे सिम्बल, सिम्बली में। शिम्बल शब्द पूर्व से ही वैदिक संस्कृत में वर्तमान है और इसका अर्थ सायण के अनुसार "रुई के वृक्ष (कपास) का फूल" है अर्थात इसकी कली जब कि अपने आच्छादन में ही रहती है तो एक बड़े सफेद फूल का रूप धारण करती है।

संस्कृत के शाल्मल, शाल्मली शब्द पाली के सिम्बल, सिम्बली शब्दों से समानता रखते हैं तथा समान अर्थ रखते हैं। किन्तु ये शब्द एक ही नहीं हो सकते। शाल्मल शब्द, एक अन्य रूप का संस्कृत–निर्मित शब्द हो सकता है। आग्नेयदेशी भाषाओं में 'बल' तथा स–, सि–, उपसर्ग के मध्य में एक अनुनासिक तथा द्रव वर्ण जोड़ा गया होगा। 'सिम्बल' शब्द में अनुनासिक म् है। 'शाल्मल' शब्द जिसमें द्रव वर्ण ल है 'सल्बल' शब्द का संस्कृत–निर्मित शब्द प्रतीत होता है।

संस्कृत के बाल, कम्बल, शाल्मल शब्द एक श्रेणी बनाते हैं जिसमें सर्वत्र बाल अथवा ऊन का भाव खोजा जा सकता है। उनमें अन्तर केवल उपसर्गों द्वारा अर्थात् एक ऐसे नियम द्वारा प्रकट किया जाता है जो भारतीय–आर्य की पदरचना के लिये विदेशी है। अत: यह आग्नेयदेशी 'बल' धातु है, जिससे हमें इन सभी शब्दों की उत्पत्ति का अनुमान करना चाहिये।

लांगल, लांगुल, लिंग

मुख्य मोन-ख्मेर तथा मलायुद्वीपी भाषाओं में हल के लिये निम्नलिखित शब्द प्रयुक्त होते हैं:—

ख्मेर	—	अंकाल, अंकल
चॅम	—	लङ्न, लङ्ल लङर
खासी	—	क – लिंकोर
तेम्बी	—	तॆँगाल
मलय	—	तॆँगल, तंगाल
बतक	—	तिंगल
मकस्सर	—	नंकल

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ये विभिन्न रूप या तो भारतीय-आर्य (संस्कृत-लांगलम्) से ग्रहण किये गये हैं अथवा ये सब एक प्राचीन आग्नेयदेशी

शब्द से उद्भूत हैं जिसके आदि तथा अन्त में कई परिवर्तन हुए जब कि मध्य भाग अधिक स्थायी रहा।

प्रथम अनुमान में दुरूह कठिनाइयों की सम्भावना है। लांगलम् शब्द का भारतीय-आर्य में कोई शब्द साधन नहीं हैं और निश्चित रूप से यह भारोपीय नहीं है। इसके अतिरिक्त ऊपर दिए हुए शब्दों का प्रतिरूप अनामाइट अर्थात उस जाति में पाया जाता है जो अपने पश्चिमी पड़ोसियों की भाँति भारतीयता के पूर्ण प्रभाव में नहीं आई है।

अनामाइट में कंइ शब्द क्रिया के रूप में "हल चलाने" के अर्थ में तथा संज्ञा "हल" दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। सम्भवत: प्राचीन समय में यह शब्द अधिक लम्बा था क्योंकि अनामाइट में एकाक्षरत्व की ओर प्रवृत्ति प्रारम्भिक काल से दृढ़ता के साथ क्रियाशील रही है। वर्तमान रूप 'कंइ्' के पूर्व एक प्राचीन रूप 'कंल' का अनुमान किया जा सकता है। वास्तव में, अन्त का ल जिसका स्थान अनामाइट में इ ने ले लिया, अब भी कई मुण्डोंग बोलियों में सुरक्षित है :

	अनामाइट	मुण्डोंग
"वृक्ष"	कंइ्	कोंल
"भूखा होना"	दोइ	तोल
"दो"	हइ	हॅल
"उड़ना (चिड़िया का)"	बइ्	पल, पोंल

"हल" तथा "हल चलाने" के अर्थ में अनामाइट का 'कल' शब्द, जो एकाक्षर की दशा को प्राप्त हो गया है, बहुत कुछ आग्नेयदेशी रूपों से समानता रखता है। अन्तर केवल इतना है कि वे पृथक किये जा सकते हैं और यहाँ पर भारतीय प्रभाव असंगत होने के कारण हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि हल के मोन-

ख्मेर तथा सुवर्णद्वीपी नामों की भारतीय-आर्य उत्पत्ति नहीं है। लांगलम् शब्द पूर्व से ही ऋग्वेद में पाया जाता है किन्तु शब्द के दो 'ल' इसका देशी भाषा का रूप सूचित करते हैं।

अतः हमें यही मानना पड़ेगा कि लांगलम् शब्द वैदिक काल से पूर्व की आर्येतर जातियों से ग्रहण किया गया है। यही फल उस दशा में भी अवश्यम्भावी है, यदि कोई भिन्न प्रकार की समस्या लेता है।

"हल" के अतिरिक्त संस्कृत का "लांगलम्" शब्द "लिंग" का नाम भी रखता है। इसके विपरीत, विशेषतः सूत्रों तथा महाभारत में लांगूल रूप मिलता है जो "लिंग" तथा (पशु की) "पूँछ" दोनों अर्थों में पाया जाता है। यदि लांगल-लांगूल की समता अधिकृत है तो शब्द का विकास सरलता से स्पष्ट हो जायगा। "लिंग" से बिना कठिनाई के "हल" तथा "पूँछ" का अर्थ प्राप्त हो सकता है। भोग की क्रिया तथा हल चलाने की रीति में (जिसके द्वारा बीज डालने के लिये भूमि खोदी जाती है) स्पष्ट सादृश्य है। इस तथ्य से समस्या और भी जटिल हो जाती है कि लगभग अनिवार्य रूप से लिंग शब्द का, जो दृढ़ता के साथ अन्य दो शब्दों से समानता रखता है, प्रवेश होता है।

जब तक हम भारतीय-आर्य क्षेत्र में रहते हैं तब तक इस प्रकार की समानता ध्वन्यात्मक रूप से असम्भव है किन्तु वह पड़ोस के समुदायों में उचित है। उदाहरण के लिए, खनखजूरा को चॅम भाषा में लपन अथवा लिपन कहते हैं। इसी भाषा में कलिक, कुॅलिक, कयउ तथा कुयॅउ, कबल तथा कुबुल पर्यायवाची रूप हैं।

स्कीट और ब्लैग्डेन के मतानुसार मलय प्रायद्वीप में 'पुलइ' वृक्ष निम्न शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है :

तिगकु
तॅगकल
तॅगकोल
तॅगकॅल
तॅगकुल

तॅगकॅल का तॅगकुल से तथा अन्तिम वर्ण रहित तिगकु का तॅगकुल से वही सम्बन्ध है जो लांगल का लांगूल से तथा लिंग का लांगल, लंगल से है।

इस प्रकार हम इस अनुमान को पहुँचते हैं कि बहुसंख्यक तथा संदिग्ध रूप—लिंग, लंगल, लांगल, लंगूल, लांगूल—एक ही शब्द के विभिन्न रूपों का प्रतिनि-

धित्र करते हैं जो भारतीय–आर्य द्वारा आग्नेयदेशी भाषाओं से ग्रहण किये गये हैं। यह अनुमान और भी पुष्ट हो सकता है यदि यह दिखला दिया जाय कि लिंग शब्द के इसी अर्थ में समान रूप पूर्व की आर्येतर भाषाओं में मिलते हैं।

यहाँ पर आग्नेयदेशी भाषाओं में गुप्तेन्द्रियों के मुख्य नाम दिये जाते हैं:—

मलय प्रायद्वीप—लक, ल, लो

स्तींग—क्लउ

बह्नार—क्-लौ

खासी—त्-लो :

सन्थाली—लोच

हो—लोच

मुंडारी—लोच

रेवरेन्ड पी० ओ० बोडिंग का कथन है कि 'लोच' शब्द सन्थालियों के द्वारा असभ्यता का शब्द माना जाता है और औरतों के सामने नहीं कहा जाता है। इसी धातु से एक अन्य शब्द 'लिच' है जो बालकों की गुप्तेन्द्रिय के विषय में प्रयुक्त होता है किन्तु वह भी अनुचित समझा जाता है।

ये सब रूप 'लक' से उद्धृत ज्ञात होते हैं जो अब भी मलय प्रायद्वीप में पाया जाता है। अन्तिम क कभी-कभी विसर्ग में परिवर्तित हो जाता है और कभी कभी पूर्णतया लुप्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप स्वर, द्विस्वरसंधि में परिवर्तित हो जाता है।

यहाँ पर भी दो कारणों से भारतीय–आर्य से ग्रहण का अनुमान निकाल दिया गया है। लिंग का इ स्वर अ के रूप से उद्धृत किसी भी आग्नेयदेशी शब्द में अयोगावस्था में नहीं पाया जाता है। इसके अतिरिक्त "लिंग" का नाम अनामाइट भाषा में कॅक शब्द से पाया जा सकता है जो निस्सन्देह क्—लक से आया है। हम जानते हैं कि पूर्व के व्यंजनों के वर्ग अनामाइट में कुछ तो १७ वीं शताब्दी के पूर्व तथा अन्य अधिक पश्चात के समय में कम कर दिये गये।

अत: यह देखा जा सकता है कि एक प्राचीन आग्नेयदेशी धातु 'लक' ने–अल,—उल में अन्त होने वाले नाम सम्बन्धी उद्धृत शब्दों को जन्म दिया है। संस्कृत के लगुड, लकुट शब्द लांगूल के प्रतिरूप से ज्ञात होते हैं और इनका "छड़ी" में अर्थ भलीभांति 'लिंग' से लिया जा सकता है। संस्कृत के लांगूल "(पशु की) पूछ" के समानान्तर हम मलय के एकोर तथा मलय प्रायद्वीप में इकुल, इकुर, एकोर, कुर शब्द उसी अर्थ में पाते हैं।

कुछ रूप जिनकी परीक्षा हम कर चुके हैं अनुनासिकत्व भाव रखते हैं जो धातु में प्रविष्ट किया हुआ प्रतीत होता है। हम जानते हैं कि अधिकांश आग्नेयदेशी भाषाओं में अन्त: प्रत्यय न अस्त्रों के नाम बनाता है। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जाता है। ख्मेर का चॉंका उत 'कपालत्राण', चॅंकाउत ('बाधा डालना', 'कपालत्राण के प्रतिकूल चलाना') से एक अन्त:प्रत्यय जोड़कर ग्रहण किया गया है। अत: यह बिचारणीय बात है कि उपर्युक्त आर्येतर शब्दों में से उन शब्दों में अनुनासिक अन्त:प्रत्यय का अभाव है जो शरीर के अंग के नाम हैं—जैसे लिंग, (पशु की) पूँछ—जब कि यन्त्र के नामों में जैसे 'हल' के नामों में वह पाया जाता है। इसके विपरीत, जैसी कि गृहीत शब्दों के विषय में आशा की जा सकती है, भारतीय-आर्य में इस सम्बन्ध में कोई नियमानुकूलता नहीं है। लगुड—लांगूल के भेद में पदरचनात्मक महत्व बिलकुल नहीं है।

—ऊल् (अ) में अनुनासिक अन्त:प्रत्यय और प्रत्यय ख्मेर में एक साथ रहते हुये प्रतीत होते हैं। इस भाषा में 'बो:ˉ' का अर्थ '(सवारी में) ले जाना' और बांकूल का अर्थ 'सवारी' है। यदि खासी के त्-लो : 'लिंग से कोई पीछे लक् धातु की ओर जाता है जिससे लिंकोर शब्द 'हल' उद्धृत है तो वह बोˉ: 'हाँकना' (ले जाना) से बक् धातु पर भी आ सकता है जिससे बांकूल 'सवारी' शब्द समझ में आ जाता है। पहली धातु पूर्ण रूप से कल्पित नहीं है।

विकल्प के रूप से यह ख्मेर के लूक शब्द 'चलाना (हाथ या अँगुली)' में पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त सन्थालियों में एक सर्वमान्य शब्द 'ल' (खोदना या छिद्र करना) है। लांगलम् जैसे उद्धृत शब्द हल का स्त्री सूचक पृथिवी में प्रवेश करना प्रकट करते हैं। अत: प्रसंग की भाषाओं में 'लिंग' तथा 'हल' के नामों के अर्थ क्रमश: 'अंग जिसे कोई अन्दर प्रविष्ट करता है' तथा 'यन्त्र जिसे कोई अन्दर प्रविष्ट करता है' हैं।

धातु के मध्य में अन्त:प्रत्यय को जोड़ने से शब्द को लम्बा करने का प्रभाव होता है जिससे शब्द के घटने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार हल के आर्येतर नामों की लम्बाई एक ही धातु से उद्धृत उसी समुदाय के अन्य शब्दों के प्रसंग में समझाई जा सकती है। उदाहरण के लिए निम्न प्रकार से तुलना की जा सकती है :

मलय—तॅंगल 'हल', एकुर 'छु'

खासी—क—लिंकोर * 'हल' , त्-लो; 'लिंग'

कदाचित यह बात विचित्र प्रतीत हो कि भारतीय-आर्यों ने आग्नेयदेशी भाषाओं से इतने शब्द ग्रहण किये हैं। विभिन्न परिस्थितियों के कारण यह परिणाम हुआ है। कुछ आग्नेयदेशी जातियाँ आज भी खेत जोतने के लिये हल का प्रयोग नहीं करती हैं वरन् एक साधारण नोकदार छड़ी का प्रयोग करती हैं जिससे वे छिद्र बनाने का काम लेती हैं जिसमें बीज रख देती हैं। वहाँ लिंग तथा खेती करने के यन्त्र में सादृश्य इतना स्पष्ट है जितना सम्भव हो सकता है। प्रोफेसर-युगल ह्यूबर्ट तथा मास ने यह संकेत किया है कि पपूवाद्वीप तथा सागरद्वीप में खेती करने की छड़ी प्राय: लिंगाकार होती है। कुछ सागरद्वीपी भाषाओं में एक ही शब्द 'लिंग' तथा 'खोदने की छड़ी' का नाम होता है। सम्भव है कि भारत के आदिम निवासी सब से पूर्व इस छड़ी का प्रयोग जानते हों और हल के आविष्कार के पश्चात भी मिट्टी खोदने वाले यन्त्र के नाम में परिवर्तन नहीं हुआ।

प्राचीन बिचारों की दृढ़ता से हमें सीता के जन्म सम्बन्धी कथानक को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है। रामायण (१,६६) के अनुसार जनक के पृथिवी पर हल चलाने के समय सीता का जन्म हुआ। यहाँ पर नाम स्पष्ट है। जनक से "उत्पन्न करने बाले" का भाव है तथा सीता से "जोती हुई भूमि"। जोती हुई भूमि को जीवधारी अनुमान करना वैदिक काल से होता रहा है। महाभारत (७,१०५,३,६४५) में सीता, उपज की देवी हैं। सीता के जन्म के कथानक के अन्तर्गत अन्न उत्पन्न करने के विषय में एक प्राचीन पौराणिक कथा छिपी हुई है। उसमें भी वही शक्तियाँ प्रत्यक्ष हैं और मुख्य क्रिया जो उनको प्रगतिशील बनाती है वह है हल—लिंग का स्त्रीवाचक पृथ्वी में प्रवेश।

दूसरी ओर, लिंग उपासनायें, जिनका महत्व हम हिन्द—चीन के प्राचीन धर्मों में पाते हैं, साधारणतया भारतीय शैव मत से गृहीत समझे जाते हैं। अधिक सम्भव है कि आर्यों ने भारत के आदिम निवासियों से लिंग की उपासना तथा मूर्ति का नाम ग्रहण किया हो। ये प्रचलित रीतियाँ, जिनसे ब्राह्मण लोग घृणा करते थे, प्राचीन काल में अधिक प्रसिद्ध न थीं। यदि हम अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करें तो सम्भवत: जान सकते हैं कि लिंग के परिवार के इतने आर्येतर शब्दों का प्रवेश विजेताओं की भाषा में क्यों हो गया है।

---

*भारतीय-आर्य ने खासी के क-लिंकोर से क-उपसर्ग भी ग्रहण किया है। महाभारत (३, ६४२) में कलांगल शब्द एक प्रकार के शस्त्र के रूप में आता है। महाकाव्य में हल की तेज़ नोक के प्रयोग का केवल यही उदाहरण नहीं है। बलराम लांगलम् धारण करते हैं, इस कारण से लांगलिन् कहे जाते हैं।

ताम्बूल

हम जानते हैं कि कुछ अन्य उपजों के साथ पान की पत्ती एक चर्व्य पदार्थ बनाने के प्रयोग में लाई जाती है जिसकी भारतीय तथा हिन्द-चीनी जातियाँ बहुत प्रशंसा करती हैं। निम्न शब्द आग्नेयदेशी भाषाओं के पान के नामों को प्रकट करते हैं :—

अलक—बलु

ख्मेर—म्लुव

बहनार—बों लों उ

रोंगाव—बों लों उ

सुए—मलुअ

लवें—में लु

स्तींग—म्लु

खा—ब्लु

पलौंग—प्लू

ये सब रूप एक 'मलू' रूप में घटाये जा सकते हैं जिसके आदि अक्षर में बहुधा म/ब उलट फेर करके हो जाता है। अन्तिम दीर्घ अक्षर का कभी कभी उव, ओं उ, उअ में द्वित्व हो जाता है। स्वर कभी कभी ए, ओं के तालव्य रूपों में परिवर्तित हो जाता है और कभी लुप्त भी हो जाता है।

आदि वर्ण के विकार के साथ स्यामी भाषा में फ्लु रूप मिलता है जो ओष्ठ्य रहता है किन्तु महाप्राण अघोष हो जाता है।

अनामाइट बोलियों में तीन रूप मिलते हैं : त्रा' उ, गिआ' उ जो बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु यदि हम मध्य-अनामाइट पर जाते हैं तो यह अन्तर कम हो जाता है : १७ वीं शताब्दी में फादर अलेक्जैन्डर डी रोड्स ने अपने शब्दकोष में ब्ला' उ पर भी ध्यान दिया है।

निम्नलिखित शब्द अधिक जटिल हैं

हलँग—लमलु

मोन—जॅबलु

मलय प्रायद्वीप—चॅम्बइ

अमइ

जॅम्बइ

जॅम्बि

पूर्व के दो नामों में म्लु / ब्लु अंश एक उपसर्ग के साथ पुनः प्रकट होता है : ल–म्लु, ज–ब्लु । मलय प्रायद्वीप के रूपों मे च, चॅम् अथवा जॅम उपसर्ग हैं और प्राचीन धातु जिसमें ल का इ हो जाता है घट कर मइ, बइ, बि रह जाती है।

उसमें भारतीय-आर्य के रूपों को समझाना सम्भव है :

संस्कृत — ताम्बूलम्

पाली — तम्बूली, तम्बूलं

प्राकृत — तम्बोलं, तम्बोलि

यहाँ पर हम मूल शब्द बूल / बोल पाते हैं जिसके पूर्व तम् अथवा ताम् उपसर्ग है। भारतीय–आर्य के अंश बूल में तथा आग्नेयदेशी बलू में अन्तर केवल स्वर के हेर फेर का है। इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि मोन–ख्मेर भाषाओं में क, त उपसर्ग, जो पशुओं तथा पौधों के नामों को बनाने में प्रयुक्त होते हैं, बहुधा मध्य में अनुनासिक द्वारा धातु से सम्बद्ध रहते हैं : जैसे तन् , तम् आदि। ये निस्सन्देह वही उपसर्ग हैं जो तोम्, दोम् रूपों में साधारणतया स्तींग, बहनार तथा कम्बोडी भाषाओं के वृक्षों के नामों के पूर्व में मिलते हैं।

अतः भारतीय-आर्य के ताम्बूल, तम्बूल, ताम्बूली, तम्बूली, ताम्बूलम्. तम्बूलम् शब्द जो भारोपीय परिवार के नहीं ज्ञात होते हैं, स्वयं (पान की) लता की तरह आग्नेयदेशी हैं। यह निर्णय और भी पुष्ट हो सकता है यदि हम हिन्द-चीनी रूपों की उत्पत्ति पर विचार करें।

पान के चर्व्य को बनाने के लिये उसकी पत्ती सिगरेट के कागज के समान मोड़ी जाती है। कम्बोडी भाषा में मोड़ने की क्रिया तथा उससे सम्बद्ध विचारों को सूचित करने के लिये निम्न शब्द हैं:—

मुर् "मोड़ना"

पोमिएल "मोड़वाना"

मुल् "गोल"

लोमुर, रोमुल् "मोड़"

स्तींग भाषा में भी हम मुल् "गोलाकार", मोर "मोड़ना" (सिगरेट) शब्द पाते हैं और फादर श्मिट इन शब्दों को बहनार के हों नुल से सम्बद्ध करते हैं।

आग्नेयदेशी परिवार से सम्बन्ध रखने वाली भारत की मुंडा भाषाओं के क्षेत्र के अन्तर्गत हम संथाली में निम्नलिखित शब्द पाते हैं :

गुलु–मुलु– "हथेलियों के मध्य रगड़ कर गोल करना, गोलाकार, वृत्ताकार" गुड़मुड़िअ "गोलाकार, वृत्ताकार"

अत: आग्नेयदेशी भाषाओं में एक क्रियात्मक धातु 'मुल्'/'मुर्' है जिसका अर्थ है मोड़ना। पान की पत्ती अर्थात् उस वस्तु का जिसे कोई मोड़ता है सम्भवत: इसी धातु से नाम पड़ा है।

बंगाल की एक हिन्दू जाति, जिसका मुख्य उद्यम पान की खेती करना तथा उसे बेचना है बारुइ < बरइ 1 कहलाती है जो बार् शब्द तथा—अ—इ प्रत्यय से बना है। बारुइ का संस्कृत रूप बारु—जीविन् "बारु पर निर्वाह करने वाला" बनता है। एक शब्द बरोज भी है जिसका अर्थ एक प्रकार की भीठ से है जिसमें पान की बेल उगती है। यह प्रकट है कि बार—,बर—शब्द पान के नाम हैं और स्पष्टतया बलु आदि हिन्द—चीनी रूपों से सम्बन्ध रखते हैं।

ऊपर की हुई शब्दों की तुलना उपदेशात्मक है। बँगला तथा हिन्द—चीनी भाषाओं के पान के नाम के रूपों में द्रव वर्ण के पश्चात उ स्वर आता है जैसे बार, बलु, ब्लु आदि। इसके विपरीत संस्कृत तथा पाली में उ, द्रव वर्ण के पूर्व आता है जैसे क्रियात्मक धातु मुर्/मुल् में।

संस्कृत तथा मध्य—भारतीय भाषाओं ने उपसर्ग को सुरक्षित रखा है जिसका पान के आधुनिक नामों से लोप हो गया है और जो संस्कृत में ताम् और पाली तथा प्राकृत में तम् से सूचित किया जाता है। अत: भारतीय-आर्य का ताम्बूल शब्द सम्भवत: पान के प्राचीन आग्नेयदेशी नाम की सबसे शुद्ध प्रतिलिपि है।

1 हिन्दी में 'बरई' शब्द का अर्थ अब भी पान विक्रेताओं की जाति वाले व्यक्ति से है।

बाण

फ़ादर डब्लू शिमट (Schmidt) ने निम्नांकित शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया है :

मोन	ख्मेर	बहनार
"धनुष से पत्थरों को फेंकना { पोंह / पह यह धनुष प्नोंह	"फेंकना, (रुई) धुनने के लिये सन्धानना" बो: "रुई की धुनकी फ्नो :	"धनुष खींचना { पोंनह / पनह

अन्त: प्रत्ययों के साथ पोह, पह क्रिया से अग्रलिखित उद्धृत शब्दों की उत्पति होती है : पनह, पोंनह, फ्नों:, फ्नोह। व्युत्पति नियमित है किन्तु यह बात स्पष्ट नहीं है कि एक ही धातु धनुष खींचने और रुई धुनने जैसी क्रियाओं के लिए क्यों प्रयुक्त होती है। निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है :

१—यह कि स्तींग भाषा में अक एक यन्त्र का नाम है जो कताई के पूर्व रुई तैयार करने के प्रयोग में लाया जाता है।

२—यही शब्द अन्य मोन-ख्मेर भाषाओं में धनुष का नाम है (दना-अक, रिआँग-आक (धनुष), अलक-अक)

दूसरी ओर सेलीबीस की मकस्सर जाति के मध्य में पान शब्द तीर चलाने के धनुष तथा रुई साफ करने के एक प्रकार के धनुष का नाम है। सोनरट ने भारत में इसी प्रकार के यन्त्र का वर्णन किया है। रुई धुनने का यंत्र एक प्रकार के धनुष के ही समान बना होता है। सर जी० ग्रियर्सन ने इसी प्रकार के किन्तु अधिक साधारण यन्त्र का वर्णन किया है १

यदि रुई धुनने के लिये धनुष का प्रयोग हिन्द-चीन में होता है, जैसा कि मलय द्वीप समूह तथा भारत में होता है तो अभी प्रकट हो जायगा कि इसी प्रकार एक ही उत्पत्ति के शब्द सन्धानने—धनुष अथवा बाण, और रुई के नाम के लिये प्रयुक्त होते हैं।

शब्दों को एकाक्षर बनाने की प्रवृत्ति से प्राचीन रूपों के घटने का प्रभाव पड़ा है :

मोन	ख्मेर	स्तींग	रोंगो	मुओंग	अनामाइट
पन	बा	"खींचना पाञ, पञ	धनुष" पङ	पन	बन

इन शब्दों और बहनार के पनङ, पोनह में अन्तर अन्त के अक्षर के लोप और अनुनासिक के कुछ परिवर्तनों द्वारा है।

१—तुलना के लिये—संस्कृत : तूल—कार्मुक, तूल-चाप, तूल—धनुष, रुई का धनुष, एक धनुष अथवा उसी प्रकार के आकार का यन्त्र जो रुई साफ करने में प्रयुक्त होता है" (—मोनियर विलियम्स)—हिमालय की लेपचा बोली में कि-अयोक शब्द (रुई को धनुष से साफ करना, धुनना) है।

जहाँ तक मोन के म्रो॑ह "पत्थर फेंकने के धनुष" का सम्बन्ध है हम निम्न-लिखित शब्दों पर ध्यान देते हैं :—

चुरु : पनन : "धनुष"

कोन्तु : पनेङ

सेदँग : पॉं॑नेङ, मों॑नेङ

हलँग : मेनेङ

कोल अथवा मुंडा भाषाओं में, सन्थाली के बनम का अर्थ "सारंगी, सारंगी बजाना" है। अन्त की क्रिया में एक छोटे धनुष की आवश्यकता पड़ती है।

दूसरी ओर अधिकांश सुवर्णद्वीपी रूप 'पनह' में घटाये जा सकते हैं। यह शब्द मलय में धनुष तथा जावा द्वीप में धनुष और तीर का नाम है। बोर्नियो के दयक लोगों में धनुष को पनह कहते हैं। फ़िलीपाइन द्वीप समूह की असंख्य भाषाओं में पॅनॅ तीर का नाम है और मिन्दनाओ में पनह धनुष का नाम है। अन्त में मेडागास्कर में फन, फल्ल—धनुष तथा तीर दोनों के नाम है। एम० निउवेन-हुइ जिन्होंने इन सुवर्णद्वीपी रूपों का अध्ययन किया है, तर्क के साथ मानते हैं कि प्राचीन काल में मलय द्वीपसमूह के सभी भागों में पनह शब्द के अर्थ धनुष तथा तीर दोनों होंगे।

इस प्रकार मोन–ख्मेर के रूपों की तुलना से यह शिक्षा मिलती है कि पनह शब्द पह, पो॑ह क्रिया "धनुष खींचना" में अन्तः प्रत्यय जोड़ कर बना है। कोई भी समझ सकता है कि इस प्रकार बने हुये यन्त्र का नाम धनुष तथा तीर दोनों के लिये होता है अर्थात वह सब ज़िसकी धनुष खींचने के लिए आवश्यकता है। अतः संस्कृत के बाण शब्द को उत्पत्ति में अब कोई सन्देह नहीं हो सकता है। यह आग्नेयदेशी भाषाओं से गृहीत बहुत प्राचीन शब्द है क्योंकि यह ऋग्वेद में (६,७५,१७) मिलता है।

आर्य लोग भारत में आने के पूर्व निश्चित रूप से धनुष का प्रयोग जानते थे। तो प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने तीर के लिए आग्नेयदेशियों से शब्द क्यों ग्रहण किया ? सम्भवतः बाँस के बने हुए तीर से वे अनभिज्ञ थे और यही कारण है कि उन्होंने नाम तथा यन्त्र दोनों को भारत के आदिम निवासियों से ग्रहण किया। वास्तव में मलय द्वीप-पुञ्ज में तीर, जिसे पनह कहते हैं, बाँस का बना होता है। इसी प्रकार बाण शब्द स्पष्ट रूप से भारत में बाँस अथवा बेंत के तीर का नाम है।

कर्पास

पह, पो॑ह, बो॑:—क्रियायें, जिनसे धनुष तथा तीर के नाम की उत्पत्ति हुई है,

सम्भवत: धातु के प्राचीन रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। आग्नेयदेशी भाषाओं में साधारणतया अन्तिम वर्ण ह प्राचीन स से निकलता है। उदाहरणार्थ ख्मेर में अम्बों: 'रुई' का अन्य रूप अम्बस है। अत: कोई भी अनुमान कर सकता है कि पह, पोंह, बों: क्रियाओं की प्रारम्भ में एक बस धातु थी जिसका अर्थ तीर फेंकने या रुई धुनने के धनुष के प्रयोग की क्रिया से था।

अब हमें निम्नलिखित नामों की, जो आग्नेयदेशी भाषाओं में रुई के नाम हैं, रचना समझने के लिये पर्याप्त ज्ञान है :

चौ—पश—बश, स्तींग पहि

ख्मेर—अम्बस, अम्बा:

बहनार—कोंपइह

सेदाँग—कोंपें

कुओइ—कबस

कचो—कोपस

रदे—कपस

मलय } —कपस
यवद्वीपी }

बतक—हपस

चॅम—कप:

इन सब रूपों के आधार में बस धातु है, चाहे उनमें उपसर्ग हों या न हों, जिसका अस्थायी आदि वर्ण साधारणतया प अथवा ब हो जाता है और अन्तिम अक्षर कुछ दशाओं में हानि-पूरण करने के लिए इ के साथ कभी कभी मृदु होकर ह में परिवर्तित हो गया है। अत: रुई के रेशे का उपयुक्त अर्थ है 'जो साफ़ की गयी अथवा धुनी गई हो।'

अधिकांश आग्नेयदेशी भाषाओं में साधारण उपसर्ग क अथवा कों है। किन्तु हम जानते हैं कि इस भाषा-परिवार में अनुनासिक अथवा द्रव वर्ण का आगम बहुधा उपसर्ग और धातु के मध्य में होता है। इससे कदाचित ख्मेर के (क्) अम्बस, (क्) अम्बो : रूप स्पष्ट हो सकते हैं जिनके आदि वर्ण का लोप हो गया है और इसी प्रकार हम संस्कृत के कर्पास 'रूई का वृक्ष' शब्द का विवरण दे सकते हैं जो भारोपीय के द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

पट, कर्पट

संस्कृत के कर्पास शब्द के अतिरिक्त, जो कर् उपसर्ग के साथ प्राचीन धातु

बस से आया है, उसी भाषा में पट और कर्पट शब्द का पाना एक विलक्षण बात है जिन दोनों का अर्थ 'रुई का माल' है। पट और कर्पट दोनों की साथ २ उपस्थिति से हमें निस्संकोच कर् उपसर्ग को पृथक करने का अवसर प्राप्त होता है और यह हमें पुन: आग्नेयदेशी क्षेत्र की ओर संकेत करती है।

कर्पास तथा कर्पट शब्दों की ध्वन्यात्मक समानता से हम यह सोच सकते हैं कि ये शब्द परस्पर शुद्ध प्रतिरूप हैं। स से ट में परिवर्तन होना भारतीय-आर्य के लिये अचिंतित है किन्तु हिन्द-चीन की कई भाषाओं में त नियमानुसार मोन–ख्मेर के व्यापक परिवार के स से समानता रखता है :

मोन	ख्मेर	स्तींग	बहनार	अनामाइट
सोॅक	सॅक	'बाल' सोॅक	सोॅक	तोॅक

ख्मेर के बोंस 'धोना (साफ़ करना), झाड़ू लगाना', के सामने हम लेवशी के पॅत को पाते है।

अत: एक ओर संस्कृत का कर्पास तथा दूसरी ओर पट, कर्पट या तो अनुक्रमिक कालों में ग्रहण किये गये हैं या विभिन्न बोली बोलने वाली जनसंख्या से आये हैं।

मांतग, मतंग

हाथी समस्त वस्तुओं को अपनी शुण्ड द्वारा ग्रहण करता है, इसीलिये कुछ भाषाओं में इसका नाम 'हाथ' को सूचित करने वाले शब्द के आधार पर रखा गया है। हाथी के संस्कृत में हस्तिन्, करिन् नाम हैं जिनका अर्थ एक हाथ वाले जानवर से है (हस्त–, कर–,)। सुवर्णद्वीपी समुदाय के एक भाग में हाथी का नाम लिमन है जो लिम शब्द 'हाथ' से बना है।

आग्नेयदेशी भाषाओं में 'हाथ' अर्थवाले शब्दों के दो मुख्य भेद हैं : जिनके अन्त में व्यंजन हो अथवा न हो।

(अ) अन्तिम व्यंजन वाले—मलय प्रायद्वीप की बोलियाँ : तोंग, तुंग, ताक (ख्मेर दंग [तंग], स्तींग तोंग 'कलाई, मुठिया')

(ब) बिना अन्तिम व्यंजन वाले—मोन तोअ [तइ], ख्मेर दय [तइ], अनामाइट तय, पलौंग तइ, सन्थाली ति आदि।

सम्भवत: ये समस्त रूप प्राचीन काल के तङ रूप से बने हैं (स्कीट तथ

ब्लैगडेन ने तत्व को सुरक्षित रीति से प्रस्तावित किया है) जैसे कि आग्नेयदेशी भाषाओं में कभी अन्तिम व्यंजन लुप्त हो जाता है और स्वर भक्ति के अंशों इ और य को स्थान देता है। इस प्रकार निम्नलिखित रूप स्पष्ट किये जा सकते हैं जिन सबका अर्थ 'हाथ' है:—

मलय तथा बतक—तङन

मलगशी—ताङन

चॅम—तङिन

जरइ—तोंङन

मलय प्रायद्वीप की कुछ बोलियों में 'हाथी' के नाम करण के लिए तङ, तोङ, तंगल, मइनतोंग तत्वों के सहित एक शब्द मिलता है।

यदि इन आधुनिक रूपों के विस्तार वहुत गूढ हैं, तो यह बात भारतीय-आर्य के मातंग, मतंग 'हाथी' के लिये भिन्न है। कोई भी, सर्व प्रथम दृष्टिपात करने पर, यहाँ म–उपसर्ग पूर्वक तङ अंश को देख सकता है। मातंग जो एक जानवर का नाम है, कभी कभी भारतवर्ष को एक आदिम जाति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

आग्नेयदेशी भाषाओं में म–उपसर्ग की उपस्थिति विशेषत: निम्नलिखित उदाहरण से सिद्ध होती है :

यह सन्थाली के मरङ शब्द में पाया जाता है जिसका अनुवाद ए० कैम्पबेल–'विशाल, दीर्घ, महान्, दीर्घाकार–अथवा विशाल, दीर्घ, महान्, दीर्घाकार होना या होने के कारण बनना, प्रथम–उत्पन्न, मुख्य, अध्यक्ष, प्रमुख' करते हैं। मरङ शब्द रङ, लङ धातु तथा म–उपसर्ग से बना है जैसा कि इस परिवार की भाषाओं के 'महान' अर्थ वाले शब्दों से सूचित होता है। चॅम भाषा का प्रौङ शब्द, तथा जरई के प्रोङ, ग्लोङ भी विचारणीय हैं। आधुनिक अनामाइट में लोन शब्द 'महान' ने केवल धातु को ही सुरक्षित रखा है। किन्तु मध्य–कालीन अनामाइट में १७ वीं शताब्दी में भी म्लोंन शब्द के अन्तर्गत म-अंश का चिन्ह मिलता है।

खासी भाषा में सर्वनामों के पूर्व, विशेष बल देने के लिए, म-अव्यय का प्रयोग होता है। उपसर्ग के रूप में म–,सर्वनाम पर ज़ोर देता है—ङाल आंग भन्गा मैंने कहा, मैंने भी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस ज़ोर देने वाले अव्यय का मध्यम पुरुष सर्वनाम के पूर्व मृदु रूपों में प्रयोग, उसके साथ संकुचित रूप में रहता है।

मयूर–, मयूक–, मरुक, मरुक

मयूर शब्द ऋग्वेद में मिलता है। प्रोफेसर जूल्स ब्लाक (Jules Bloch)

ने हाल ही में इसकी तुलना द्राविड़ी, मुंडा तथा हिन्द-चीनी रूपों से की है। आग्नेयदेशी के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं:—

सन्थाली	मरक
सवर	मर
चॅम	अम्रक
मलय	मेर
च्रौ	ब्रक
स्तींग	ब्रॅक
मोन	म्रा

इनमें से बहुत से शब्दों का अन्तिम वर्ण कण्ठ्य है और ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन रूप मरक रहा होगा जो सन्थाली में सुरक्षित है। मरक शब्द में म— उपसर्ग रक् धातु से पृथक किया जा सकता है जिससे पक्षी के शब्द की ध्वनि निकलती है। वास्तव में ए० कैम्पबेल के सन्थाली शब्दकोष में निम्नलिखित शब्द मिलता है:—

रक्—'रोना, गिड़गिड़ाना, पुकार, पशु, पक्षी अथवा कीट का शब्द'

इसी रक् से, मलय—सोरक, ख्मेर—स्रॅक तथा जरई—क्रै: , स्पष्ट हो सकते हैं जिन सबका अर्थ 'चिल्लाना' है। मोर जिसका ऊँचा स्वर कुक्कुट के शब्द के पूर्व सुनाई पड़ता है, वह पक्षी है जो रक् शब्द करता है। यदि अ=उ मान लिया जाय तो संस्कृत के मरुक, मरूक शब्द आग्नेयदेशी शब्द के आधार पर बने हैं।

मरुक, मरूक के अतिरिक्त संस्कृत में मोर का अन्य नाम मयूक है जिसका उल्लेख हेमचन्द्र के शब्दकोष के परिशेष में मिलता है। पूर्व के रूपों का इस रूप में परिवर्तन सरलता से आग्नेयदेशी भाषाओं द्वारा स्पष्ट हो सकता है। 'लाल' अर्थ वाले विशेषण के लिए हम मलय में मेरह, चम में मौंरिअह तथा जरई में मिय: पाते हैं।

मयूक और मयूर, जिनका समान अर्थ है पृथक नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय-आर्य में—क तथा—र नियमित प्रत्यय हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि रूपों का यह परिवर्तन कैसे हुआ? वैदिक भाषा ने सर्वमान्य शब्द को एक उच्च स्तर पर पहुँचा दिया है। इसी कारण यह रहस्यमय तथा आदरसूचक हो गया है। मयूक शब्द, जो आदिम ज्ञातियों से ग्रहण किया गया, वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त करने के लिए निम्न कोटि का समझा गया। मयूक शब्द का विश्लेषण मयू+क है। —क के स्थान पर—र कर देने से इस शब्द का

कम प्रचलित रूप हो गया। कदाचित –र प्रत्यय –क की अपेक्षा अधिक आदर-सूचक भी था क्योंकि यह सर्वमान्य समकक्ष–ल के विरुद्ध था।

मकुट, मुकुट

जब हम यह मान लेते हैं कि कुछ शब्दों में म-उपसर्ग का महत्त्व बढ़ाने के अर्थ में प्रयोग होता था और कभी कभी इसका मु-रूप हो जाता था, तो हम इसकी सहायता से भारतीय-आर्य के अन्य शब्दों को स्पष्ट कर सकते हैं जिनके विषय में आग्नेयदेशी भाषाओं से ग्रहण किये जाने का संदेह होता है। हम देखेंगे कि मकुट,-मुकुट में यही म-,मु-उपसर्ग है। मुरल एक मछली का नाम है किन्तु यह शब्द एक जाति का भी नाम है जो केरल से मिल गई है। इसके अतिरिक्त मुरल अथवा मुरन्दला, केरल देश की एक नदी का नाम है। यहाँ पर हम आग्नेयदेशी उत्पत्ति के प्रत्यय तथा अन्त: प्रत्यय पाते हैं। के–, के स्थान में मु-उपसर्ग रखकर हम केरल से मुरल शब्द पाते हैं और मुरन्दला शब्द–न्-द- अन्त: प्रत्यय जोड़कर मुरला से बना है; द्वित्व अन्त: प्रत्यय प्राय: आग्नेयदेशी भाषाओं में मिलते हैं। यह अनुमान करके, कि यहाँ पर भी म–, मु-उपसर्ग महत्व प्रकट करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं, यह भी समझा जा सकता है कि इस उपसर्ग का प्रयोग नदी, जाति अथवा एक महत्वपूर्ण ज्ञाति तथा ज्ञाति के ही नाम वाली मछली के नामों के लिये क्यों किया गया है? इसी प्रकार वैदिक शब्द मरुत्, (वायु, वायु देवता), जिसकी अभी तक कोई संतोषजनक व्युत्पत्ति नहीं हो पाई है, समझाया जा सकता है। यदि मरुक् (अ) (मोर) का अर्थ है 'चिड़िया जो चिल्लाती है' तो क्या मरुतों का अर्थ 'वे जो चिल्लाते' हैं अथवा 'गरजने वाले' नहीं हो सकता है? कुछ सकई बोलियों में (मलय प्रायद्वीप) वायु के लिये परुग शब्द है जिससे उसी क्षेत्र के रू 'गरजना' (सिंह की तरह) तथा परु 'गर्जन' की तुलना कर सकते हैं।

यह सत्य है कि हम संस्कृत में मरुत शब्द पाते हैं, मरुक नहीं किन्तु भारतीय-आर्य में एक रुद् धातु है जिसका अर्थ है 'चिल्लाना, दु:ख प्रकट करना, गरजना, तथा रुतम 'चिल्लाने का शब्द' और रुद्र 'गरजने वाला' (मरुतों के प्रमुख–एक बड़े देवता का नाम) जैसे संज्ञा शब्द हैं। यह विचारा जा सकता है कि रुद्र, रुतम के साथ समानता करके वायु का नाम मरुत हुआ। किन्तु यह केवल अनुमान मात्र है। जब तक हम प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा धर्म में आग्नेयदेशी अंशों पर ध्यान नहीं देते हैं तवतक भारतीय-आर्य के व्यक्तिवाचक नामों के सम्बन्ध में कोई निश्चित परिणाम, कम से कम कुछ दशाओं में, प्राप्त नहीं हो सकते।

इष्टका

शिल्पकला तथा धार्मिक कृत्यों में प्रयुक्त होने के कारण 'ईंट' का भारतीय सभ्यता में बड़ा महत्व है। अतः ईंट शब्द की उत्पत्ति, भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति पर प्रकाश डालेगी। एस० सी० सरकार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह शब्द द्राविड़ी उत्पति का है। हाल में ओटो स्टीन (Otto Stein) ने इस मत की आलोचना की है।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी निम्नलिखित रूप बतलाते हैं "*इएटा-, *इएठ-, *इट्ट (*इड) -=इष्ट-क। हिन्दी में ईंट, ईठ, इंठ रूप हैं। इसके फलस्वरूप एस० सी० सरकार इष्टका में 'इट्', 'इट' के संस्कृत रूप देखते हैं जिनका सम्बन्ध वे द्राविड़ी धातु इट (इड) से बतलाते हैं जिसके अर्थ हैं "खोदना, कुदराना, खोदा हुआ"। इसी धातु से उक्त विद्वान द्राविड़ी के इट्टिका (ईंट) शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं। अथर्व वेद (५, ६, १४, ३,) के 'इट' शब्द का अर्थ वे 'मिट्टी' बतलाते हैं और विभिन्न नामों इटली, इटारसी, इटावा आदि में वही धातु पहचानते हैं। इनसे वे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि गंगा नदी की घाटी के द्रविड़ों ने आर्यों को ईंटों को तैयार करने तथा प्रयोग में लाने की क्रिया प्रदान की है।

ओ० स्टीन (O, Stein) का तर्क इस प्रकार है:—

द्राविड़ी व्युत्पत्ति का बहिष्कार करना चाहिये क्योंकि "खोदने" के अर्थ वाली धातु से 'ईंट' शब्द नहीं बन सकता था। द्राविड़ी भाषा का इट्टिका शब्द निस्सन्देह भारतीय-आर्य से गृहीत शब्द है। अन्त में, इष्टका शब्द की भारोपीय विशेषता में कोई सन्देह नहीं है जैसा कि अवेस्ती इश्त्य शब्द से तुलना करने पर सिद्ध होता है।

जाँ सिल्यूस्की (Jean Przyluski) * तो सरकार केविचारों से सहमत है और ईंट के नाम की आर्येतर उत्पति में विश्वास करते हैं। ये 'इष्टका' शब्द को प्राचीन शब्द का संस्कृत रूप मानते हैं। उनका कथन निम्न प्रकार से है: —

पाली में हम लेड्डु तथा लेड्डुक शब्द पाते हैं जिनका अर्थ है "मिट्टी का ढेला"। इनसे समानता रखता हुआ संस्कृत में लेष्टु शब्द है। गाइगर के मतानुसार लेड्ढु, लेड्डु=लेष्टु। प्राकृत भाषाओं से लेड्ढु, लेट्टुय, लेट्टुअ, लेड्डुक्क, लेड्डु, लेड्डुअ, लेड्डुक्क, लेडु आदि विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। संस्कृत के लेष्टु के पक्ष में हम पुनः नेष्टु को पाते हैं। लोष्टु/लोष्ट का प्रत्येक दशा में एक ही अर्थ है और प्राकृत भाषाओं से लोढ, लोट्टक्क आदि अन्य शब्दों की श्रेणी भी मिलती है।

---

*On the origin of the Aryan wod Istaka(I.H. Q., Vol. 7)

मुंडा परिवार की प्रसिद्ध भाषा सन्थाली में एक विशेषण लेटको है जिसके अर्थ हैं "लसलसा, चिपकनेवाला, जैसे कुछ प्रकार की मिट्टियाँ", तथा एक क्रिया लेटकोम है जिसका अर्थ है "चिपटना, लगना"। इनके साथ ही साथ अन्य शब्द 'लेटेलेटे' (मुलायम, कीचड़ के समान, नम) तथा 'लेट' (धूलवाला, कीचड़ अथवा धूल से ढका हुआ, लेप करना, लेसना—कैम्पबेल—'सन्थाली—अंग्रेजी शब्द कोष') जोड़े जा सकते हैं। मुंडा की एक प्रचलित धातु अर्थात्-लेट के वर्तमान होने से भारतीय-आर्य के लेष्टु आदि शब्द, जिनका अर्थ "मिट्टी, मिट्टी का ढला" है सरल हो जाते हैं (संयुक्त शब्द लोष्टुमय भी है जिसका अर्थ "मिट्टी का बना हुआ, मिट्टी का" है)।

यह भली भाँति ज्ञात है कि भारतीय-आर्य के आर्येतर उत्पत्ति वाले शब्दों में आदि वर्ण का प्रायः लोप हो जाता है। लेष्टु का लेष्ट में परिवर्तन विचित्र समझा जा सकता है और आदि अक्षर के लोप द्वारा यह एष्ट रह जाता है। इष्ट शब्द मध्य-भारतीय के ए वाले रूप का संस्कृत रूप हो सकता है। अन्त में "मिट्टी के ढले" से "ईंट" के अवस्थान्तर में कोई कठिनाई नहीं उपस्थित होती है।

'लेट्' धातु की आर्येतर उत्पत्ति के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता है, यदि हम निम्नलिखित भाषाओं के शब्दों की तुलना करें :—

सन्थाली—लेट "लेप करना, लेसना"

मोन—लेत "लेप करना, लेसना"

सेमाँग—लित–लुत 'लेसा हुआ'

सन्थाली—लेटे लेटे 'मुलायम, कीचड़ के समान, नम'

मलय—लिअत 'मुलायम, लचीला'

सेमाँग—ते–लिअत 'मुलायम भूमि, मिट्टी'

मलय—तानह–लीअत 'मिट्टी'

ख्मेर—देइ एत 'मिट्टी'

ख्मेर—एत 'ईंट'

विरोध में कोई भी कह सकता है कि आधुनिक मुंडा जातियाँ ईंटों का प्रयोग नहीं जानती हैं। उत्तर में, इसका कारण इस तथ्य के आधार पर है कि ये लोग निर्धन होने के कारण आर्यों द्वारा भगा दिये गये और तब से दीर्घ काल तक हीन दशा में रहे। हमें इस मत को मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सन्थाली जाति के

अधम लोग उन लोगों के ही वंशज हैं जिन्होंने हड़प्पा तथा मोहिनजोदड़ो को बनाया। हिन्द-चीन में चम जाति के लोग इसी स्थिति में हैं। ईंट के नाम के लिये उनका भी एक शब्द एकि–अक है किन्तु वे उन बड़ी तथा ठोस ईंटों का बनाना भूल गये हैं जिनसे उनके पूर्वजों ने इतने प्रशंसनीय स्मारक बनाये। किन्तु यत्र तत्र वाह्य आक्रमण के परिणाम स्वरूप निर्धनता के कारण उनकी प्राचीन क्रिया विलीन हो गई।

टी० के० जोसेफ* ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है। उनका मत इस प्रकार है :—

ईंट के लिये मलयालम का साधारण शब्द इटिक अथवा अशिक्षित मनुष्य की भाषा में इष्टिक अथवा इष्टिय है। दक्षिणी भारत के पूर्वीतट पर मलयालम देश के दक्षिणी भाग तथा तामिल देश के पड़ोस में वेङ्कल (=कटा हुआ पत्थर, ईंट के रँग का एक पत्थर) तथा करिंकल (=काला पत्थर, बिल्लौरी पत्थर) के विरुद्ध, जो पकी हुई ईंटों के प्रवेश के पूर्व गृह निर्माण में प्रयुक्त होते थे, ईंट के लिये साधारण शब्द चेंकल (=लाल पत्थर) अथवा चुट्टकल (जला हुआ अथवा पका हुआ पत्थर) है। मलयालम क्षेत्र में (अथवा केरल में) ईंट का प्रयोग केवल एक या दो शताब्दी पूर्व आरम्भ हुआ। तामिल देश में इसका प्रयोग अधिक प्राचीन है।

उपर्युक्त मतों का अध्ययन करने पर दो बातें सम्भव प्रतीत होती हैं। या तो इष्टका शब्द की उत्पत्ति ख्मेर के 'एत' शब्द से हुई या मलयालम के इष्टिक, इष्टिय, इष्टिक शब्दों से हुई क्योंकि इन सब शब्दों का अर्थ ईंट ही है। कुछ भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इष्टका शब्द आर्येतर उत्पत्ति का है।

जातीय, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक शब्द

कोसल–तोसल

कोशल शब्द संस्कृत के महाकाव्यों में भली भाँति परिचित है। सरयू तट पर बसे हुये कोशल नगर की प्रसंसा से ही रामायण प्रारम्भ होती है। राम के पिता दशरथ इस नगर के राजा थे तथा राम की जननी कौशल्या 'कोशल देश की' थीं

*Istaka and Istya (I. H. Q. Vol. 8. p 376)

कोशल की राजधानी अयोध्या भी पूर्णतया कोशल के नाम से प्रसिद्ध थी। महाभारत इसका सम्बन्ध काशी, मत्स्य, करुष, चेदि तथा पुण्ड्र से बतलाता है। भगवान बुद्ध के जीवन तथा उपदेश के सम्बन्ध में कोसल को भी महान पद प्राप्त है। यह उत्तरी भारत का अत्यन्त प्रसिद्ध राज्य है। कोशल का नाम वैदिक काल में भी मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (१, ४, १, १७) में इसका उल्लेख विदेह के साथ मिलता है। महाभारत कोशलवासियों के दो भेद करता है—पूर्व के (प्राक्) तथा उत्तर के। रामायण उत्तर के कोशलवासियों को सर्वश्रेष्ट बतलाती है। बाद को कोशल देश अथवा महाकोशल नाम दक्षिण कोशल का हुआ। इसी नाम से इसका उल्लेख प्राय: मध्य युग के शिलालेखों में मिलता है। जबकि कोशल गंगा के उत्तर में अवध का प्रदेश है, दक्षिणी कोशल का विस्तार एक ओर तो बरार और उड़ीसा तक तथा दूसरी ओर अमरकंटक और बस्तर तक है। महानदी के उत्तरी मार्ग से मिला हुआ छत्तीसगढ़ का क्षेत्र उसका केन्द्र है।

तोसल के नाम को उतनी ख्याति प्राप्त नहीं है जितनी कोसल को। यह कोसल नाम से जुड़ा हुआ मिलता है और सम्भवत: अथर्ववेद परिशिष्ट, अध्याय ५६, की दक्षिण पूर्व से सम्बद्ध लोगों को सूची में इस युग्म के आहत होने के कारण यह लुप्त होने से बच गया है। अत: इस अवतरण के कोसल से दक्षिण-कोसल का अर्थ है। यह कुछ पुराणों की भौगोलिक सूची में इसी प्रकार मिलता है (मत्स्य पु० ११३, ५३, मार्कण्डेय पु० ५७, ५४, वायु पु० ४५, १३३ तोशला: कोशला:)। (स्त्रीलिंग में) तोसली का नाम केवल अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त भारतीयों को कठिनता से ज्ञात हुआ है। तोसली नाम किसी एक क्षेत्र के लिए अवश्य प्रयुक्त हुआ होगा, क्योंकि हम उत्तरी तोसली तथा दक्षिणी-तोसली का विवरण प्राप्त करते हैं। तोलेमी नामक विद्वान भारत के तोसलेइ अथवा तोसले को गंगा के पार १५०° पूर्व तथा २३°२०′ उत्तर की ओर, गंगा से सुवर्ण के प्रायद्वीप के मार्ग में—किरात के समीप उस क्षेत्र के मध्य में बतलाते हैं जो वर्तमान सिलहट तथा मणिपुर से समानता रखता है। तोसलेई ५° दक्षिण और ४° पूर्व में तोलेमी एक त्रिलिंगन अथवा त्रिगिलप्तन नाम का नगर बतलाते हैं। उसी अवतरण में अन्य नगर तोलेमी द्वारा गिनाये गये हैं जो अभी तक अज्ञात हैं:—

रंडमरकोट्ट—जहाँ पर जटामासी की अधिकता है, ऐथीन गोनोन, मनिऐन, तोसलेइ........आदि। सेंट मार्टिन ने रंडमरकोट्ट की समता एक प्राचीन राजधानी रंगामटी से किया है जो ब्रह्मपुत्र के निचले पश्चिमी तट पर स्थित है और अब उदेपुर (उदयपुर,-सूर्योदय का नगर) नाम से प्रसिद्ध है। यूल नामक विद्वान

जो कि इस समानता से सहमत हैं, इस स्थान के नाम का संस्कृत रूप रंगमृतिका देते हैं।

जटामासी का संस्कृत नाम नलद है। किसी शब्द के अक्षरों के स्थान परिवर्तन के नियम द्वारा, जो संस्कृत में र को दशा में सदा सरल है, लन् (अ) द और तब रन्द रूप हुआ है। जहाँ तक ल और र के परिवर्तन का प्रश्न है, उसका अवशेष हम निश्चित रूप से पाणिनि के किसरादिगण (४, ४, ५३) में पाते हैं। गणपाठ में किसर के बाद नरद और नलद शब्द आते हैं। पी० डबलू० बोटलिंक नरद शब्द में जटामासी के नाम को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते हैं। चन्द्रगोभिन् ने उसी गण में नरद को निकाल कर केवल नलद रखा है। वनस्पति-विज्ञान की नामावली में नलद को "नरडोस्टैकिस जटमैन्सी" (Nardostachys Jatamansi) अथवा 'नैरडस इन्डिकस' (Nardus Indicus) कहते हैं। खोरी (Khori) और कतरक (Katrak) उच्च हिमालय को इसका स्थान सूचित करते हैं। इसी प्रकार यूल (Yule) और बर्नेल ((Burnell) संकेत करते हैं कि 'नरडोस्टैकिस जटमैन्सी' का पौधा अधिक ऊँचे हिमालय की उपज है। अत: यदि रैन्डमरकोट्ट जटामासी से पूर्ण है तो यह या तो हिमालय की ऊँचाइयों में स्थित होगा अथवा उसके इतना समीप होगा कि बाजार का काम देने योग्य होगा। अत: रैन्डमरकोट्ट उत्तरी बंगाल की ओर ले जाता है। प्रश्न यह उठता है कि किस भ्रम-पूर्ण सूचना से तोलेमी ने तोसली (तोसलेइ, तोसले) तथा त्रिलिंग (त्रिलिंगोन) की गंगा नदी के पूर्व में स्थिति बताई है? और फिर भी तोलेमी तोसली के महत्व से अनभिज्ञ न थे, क्योंकि उन्होंने स्वयं इसे राजधानी का नाम दिया है।

कुछ भी हो, यह निश्चित है कि तोसली, उड़ीसा के कटक जिले में स्थित था और वर्तमान धौली गाँव तोसली के समीपवर्ती अथवा उसी के सदृश स्थान पर स्थित है। तो यह प्रश्न उठ सकता है कि धौली नाम ही तो तोसली के प्राचीन नाम का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। तोसली का धौली में परिवर्तन ध्वन्यात्मक रीति से असम्भव नहीं है। संस्कृत के दो स्वरों के मध्य का ऊष्म प्राकृत भाषाओं में साधारण महाप्राण हो सकता है और कुछ दशाओं में अवश्य हो जाता है ('पिशेले' २६४)—उदाहरण दिअह=दिवस। इसी प्रकार यदि तोसली का तोहली में विकास हो सकता था, तो यह अस्पष्ट नाम धौली 'स्वच्छ' की ओर संकेत कर सकता था। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि स>ह, त>द और 'ह' के प्रभाव से तथा पूर्ण अल्पप्राण व्यंजन 'द' 'ध' में परिवर्तित होने के कारण निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं:—

तोसली > तोहली, दोहली, धोली, धौली। इसके अतिरिक्त 'धवलगिरि' से 'धौली' की व्युत्पत्ति भी विचारणीय है।

एक ग्रन्थ, जिसका उल्लेख अभी नहीं किया गया है, तोसली की स्थिति की समस्या को सुलझाने में सहायता देता है। वह है बौद्ध-संस्कृत ग्रन्थ 'गण्डव्यूह' जो नैपाल में सुरक्षित है किन्तु अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। किन्तु वास्तव में यह केवल एक भाग है। यह उस विस्तृत संग्रह का अन्तिम भाग है जिसका शीर्षक 'अवतंसक' है तथा जो पूर्ण रूप से चीनी तथा तिब्बती भाषान्तर में सुरक्षित है। हम जानते हैं कि 'अवतंसक' का अन्तिम भाग उड़ीसा में आठवीं शताब्दी में ही एक पृथक ग्रन्थ माना जाता था और उस समय वहाँ विशेषरूप से मान्य था।

ग्रन्थ का नायक सुधन, मञ्जुश्री का प्रिय शिष्य है जो अपने गुरू के आदेश से पग पग पर कभी राजा से तो कभी दास से, प्राचीन ऋषि अथवा भोले बच्चों से शिक्षा ग्रहण करता हुआ भारत की परिक्रमा करता है। उसे योग्यतानुसार उपदेश देकर उपासिका अचलस्थिरा ने उससे कहा "ऐ युवक, अपने मार्ग पर जाओ। इस दक्षिणी भूभाग में, जहाँ हमलोग हैं, अमिततोसल नामक देश है; उस देश में तोसल नाम का नगर है, वहाँ सर्वगामिन् नाम वाला भ्रमण करता हुआ एक सन्यासी है.....................।". अतः कई अवस्थाओं में होता हुआ वह तोसल नगर की खोज में उस अमित-तोसल देश को गया। सूर्यास्त के समय उसने तोसल नगर में प्रवेश किया। वह नगर के चौक के मध्य रुका; तत्पश्चात गली गली, स्थान स्थान तथा गाड़ी के मार्गों में होता हुआ अन्त में सर्वगामिन् के पास पहुँचा और जब रात्रि समाप्त हो रही थी, उसने तोसल नगर के उत्तर में सुरम नाम के पर्वत को देखा जिसकी चोटी मैदानों, तरु कुंजों, पौधों तथा वन, उपवनों से ढकी थी।

चीनी अनुवादकों में सबसे प्राचीन बुद्धभद्र, संस्कृत ग्रन्थ के अमित-तोसल को पु-को-चेंग नाम देते हैं जो महाव्युत्पत्ति के अनुसार (२४६, ११६ तथा २४७, १२३) अतुल्य "अतुलनीय" का पर्यायवाची है। यह अर्थ अमित शब्द से निकल सकता है जिसका शाब्दिक अर्थ "अपरिमित; मापरहित" है किन्तु चीनी भाषा में अमित शब्द का साधारण अनुवाद वु-लिअंग है जो वास्तव में शिक्षानन्द (१,४,२८) और प्राज्ञ (१,५,५२) के अनुवादों में पाया जा सकता है। शिक्षानन्द और प्राज्ञ नगर के नाम की प्रतिलिपि तु स-लो करते हैं। बुद्धभद्र इसका अनुवाद चेल्सु करते हैं जो महाव्युत्पत्ति (१४५,६) के अनुसार 'संतुष्ट' शब्द के पर्यायवाची का काम करता है। बुद्धभद्र तोसल नाम में तुष् धातु "संतुष्ट करना" स्वीकार करते हैं। गंडव्यूह के संस्कृत के

हस्तलिखित ग्रन्थों में एक ही अवतरण में तीन वैकल्पिक रूप मिलते हैं : तोसल, तोषल तथा तोसर। बुद्धभद्र पर्वत का नाम नहीं देते हैं। वे केवल यही कहते हैं कि इस नगर के उत्तर में उदयकालीन सूर्य के सदृश देदीप्यमान एक पर्वत है। शिक्षानन्द तथा प्राज्ञ—नगर के पूर्व में पर्वत की स्थिति के परिज्ञापन में पूर्णतया सहमत हैं। दोनों विद्वान इस नाम का अनुवाद चीनी भाषा में करते हैं। शिक्षानन्द शेन-तो 'अच्छा गुण' जिसका संस्कृत रूप सगुण होता है, देते हैं; प्राज्ञ इसका अनुवाद मिश्रौ-कि-सिश्रंग "अपूर्व मंगल" करते हैं जो मञ्जुश्री के नाम के पर्यायवाचियों में से है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाम सम्बन्धी इस विषय पर उड़ीसा नरेश के राजकीय हस्तलेख का विश्वास करना चाहिये जो प्राज्ञ के अनुवाद के आधार पर है। कदाचित स्थानीय जाँच से यह प्रश्न हल हो सकेगा।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के बहुत से नाम, जिनपर हमें विचार करना है, कभी लेख में स्थायी तथा दृढ़ रूप को नहीं प्राप्त हुये हैं। कोसल और तोसल शब्दों का दन्त्य ऊष्म, जो ओ स्वर के होते हुये भी मध्य में सुरक्षित है, एक प्रकार से संस्कृत व्याकरण के कठिन नियमों के विरुद्ध है जिसमें ऐसी दशाओं में दन्त्य स का मूर्धन्य ष में परिवर्तन होने का विधान है। तालव्य ऊष्म के साथ कोशल रूप साधारण प्रयोग के लिये भी ग्रहण किया गया है। इससे उपर्युक्त कठिनाई दूर हो गई। इससे भी अधिक प्रशंसनीय लाभ इस दुरूह जातीय नाम को साधारण शब्द-परिवार कोश, कुश, कुशल से सम्बद्ध करने का है जिनमें तालव्य ऊष्म सम्मिलित है। तोसल शब्द पर भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। यह तोष आदि शब्दों के सादृश्य से आकृष्ट हुआ है जो संतोष अर्थ को प्रकट करते हैं। अतः हम प्रायः तोषल शब्द पाते हैं किन्तु कभी कभी कोशल की तरह तोशल शब्द भी मिलता है।

तोसल तथा धौली

'गण्डव्यूह' ग्रन्थ के अनुसार तोसल नगर के उत्तर में सुरभ नाम का पर्वत स्थित है। बुद्धभद्र के चीनी अनुवाद में ग्रन्थ का पूर्ण रूप से अनुगमन किया गया है। शिक्षानन्द तथा प्राज्ञ के अनुवाद में पर्वत की स्थिति नगर के पूर्व में बतलाई गई है। इन विद्वानों ने उड़ीसा नरेश की राजहस्तलिपियों का अनुवाद किया है जो इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक है।

यदि तोसल की समानता धौली तथा उसके समीपवर्ती भाग से की जाय, तो सुरभ पर्वत की समता धौली पर्वत से की जा सकती है (जो धवलगिरि भी कहलाता है) क्योंकि उस भूभाग में केवल यही पहाड़ी है। धौली की स्थिति भुवनेश्वर के

दक्षिण अथवा दक्षिण-पूर्व में लगभग पाँच मील की दूरी पर है। भुवनेश्वर से पुरी तक पक्का मार्ग है जो शिशुपालगढ़ नामक प्राचीन स्थान को पार करता हुआ पुरी तक जाता है जिसके मध्य में दयानदी आ गई है। धौली की पहाड़ी, नदी के समीप में मार्ग के पश्चिम की ओर स्थित है। इस पहाड़ी के दक्षिण-पूर्व में कौशुल्ला-गांग नामक एक विशाल जलाशय है जो वर्षा ऋतु में दयानदी के जल से परिपूर्ण हो जाता है। सम्भवत: यह एक बाँध था जो एक प्राचीन नदी पर बना था तथा जिसमें जलाभाव के समय के लिए जल सुरक्षित रखा जाता था। इस प्राचीन बाँध का चिन्ह अभी मिलता है। यदि यह मान लिया जाय कि जलाशय पहले एक बाँध था, तो यह एक समीपवर्ती नगर में जल पहुँचाने के लिये बनाया गया होगा। उस नगर का कोई चिन्ह अब उपलब्ध नहीं है परन्तु वह कदाचित बाँध के समीप स्थित होगा। इस नगर की सीमायें सम्भवत: पश्चिम में नदी, पूर्व में कौशुल्ला गाँग तथा उत्तर अथवा उत्तर-पूर्व में धौली की पहाड़ी बनाती थीं। आरम्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि धौली की पहाड़ी के पूर्व में अशोक का एक शिलालेख प्राप्त होता है जो उस मार्ग के सम्मुख है। यदि यह मार्ग प्राचीन काल में नगर के समीप से होकर जाता था, तो कदाचित यह अधिक पूर्व की ओर था और पहाड़ी तथा कौशुल्ला गांग के समीप से होकर जाता था। नक्शे के अध्ययन से* विदित होता है कि नदी की मुख्य धारा अब बरगोबी नदी से बहती है।

यदि प्राचीन तोसली की स्थिति उपरोक्त कथन के अनुसार ही है, तो धौली की पहाड़ी उसके उत्तर अथवा उत्तर-पूर्व में स्थित थी जैसा कि 'गण्डव्यूह' के प्रसंगों से विदित होता है और कौशुल्ला-गांग उसके पूर्व में था। गांग का तात्पर्य साधारणतया नदी से होता है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि कौशुल्ला गांग पूर्व में नदी की ही एक शाखा थी। ऐसा विचार भी किया जा सकता है कि सम्भवत: कौशुल्ला शब्द कोसल अथवा कोशल के आधार पर है।

अंग वंग

ये नाम सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इतने परिचित हैं कि इनके अर्थ प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। अंग शब्द का उल्लेख अथर्ववेद (५,२२,१४) में मगध के समीप आर्य–क्षेत्र की पूर्वी सीमा के रूप में प्राप्त होता है। वंग (बंग) शब्द अब भी बंगाल (=बंग + आल) के नाम में अवशिष्ट है। अंग और वंग, जो बहुधा एक साथ जुड़े रहते हैं, साधारणतया अपना सहयोगी कलिंग शब्द रखते हैं। ये तीनों पुण्ड्र (और सुह्म) के साथ (महाभारत १, १०४), राजा बलि

---

*देखिए 'धौली का चित्र'– परिशिष्ट

के लाभ के लिये उनकी प्रार्थना पर सम्राज्ञी सुदेष्णा तथा अंधे वृद्ध दीर्घतमस् ऋषि के सहवास से उत्पन्न पाँच भाइयों के रूप में दिखलाये गये हैं। यहाँ पर हम प्राचीन स्थानीय कथानकों को पाते हैं जो घरेलू कथा कहानियों के अध्ययन करने पर आग्नेयदेशी क्षेत्र में मिलेंगे। अंग और वंग शब्द अधिकांश समय तक भारत के आर्यों के लिये संदेहास्पद रहे। बौद्धायन यह नियत करते हैं कि आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वंग, कलिंग और प्रानून के मध्य यात्रा करने के पश्चात् प्रायश्चित रूप में एक यज्ञ करना चाहिये। (आरट्टान्, कारस्करान् पुंड्रान्, सौवीरान् वंग, कलिंगान् प्रानूनान् इति च गत्वा पुनस्तोमेनं यजेत् सर्वपृष्ठया वा)। यह ध्यान देने की बात है कि वंग और कलिंग एक संयुक्त संज्ञा में प्राप्त हुये हैं जबकि अन्य जातियों का एक एक करके उल्लेख है। उपर्युक्त पंक्तियों के पूर्व के एक चरण में बौद्धायन, अंग को वर्णसंकरों के मध्य में विभक्त करते हैं—

अवन्तयो ऽङ्ग मगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
उपावृत सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः॥

जिन कारणों से ब्राह्मण समाज में इन देशों पर एक बुरी ख्याति का आरोपण किया गया था, उन्हीं के आधार पर इनको धर्मविरोधी सम्प्रदायों के मध्य में एक अविकृत पदवी प्राप्त हुई है। जैनों के लिये अंग एक पवित्र देश है। चम्पा राजधानी, जैन कथानक तथा इतिहास के असंख्य पवित्र व्यक्तियों का निवास स्थान है। 'प्रज्ञापना उपाङ्ग' में अंग और वंग आर्य जातियों के प्रथम समुदाय में विभक्त हैं जिसे खेतारिय कहा गया है। सूची इस प्रकार आरम्भ होती है—

रायगिह, मगह चम्पा अंगा तह, तामलित्ति वंग य।

बौद्ध धर्म अंग को प्राचीन सोलह राज्यों की सूची में मिलाता है; वंग की एक निम्नकोटि की स्थिति है। 'अंगुत्तर निकाय' में केवल एक ही स्थान पर उसका उल्लेख (१, २१३) सोलह राज्यों की सूची में हैं। पश्चात् के बौद्ध साहित्य में निरन्तर अंग और वंग एक स्थान पर रखे गये हैं। अंग बंगाल के भागलपुर जिले से मिलता है और वंग—बिरभुम, मुर्शिदाबाद, बर्दवान तथा नदिया जिलों से समानता रखता है।

कलिंग—त्रिलिंग

कलिंग में उत्तर के उत्कल तथा दक्षिण के तेलिंग के मध्य का पूर्वी तट सम्मिलित था। वैतरणी उसके मध्य से बहती थी, महेन्द्र पर्वत (पूर्वी घाट) उसकी दक्षिणी सीमा के अन्तर्गत था। अतः कलिंग में वर्तमान उड़ीसा का प्रान्त, गंजम् जिला तथा सम्भवतः विजगापटम भी सम्मिलित था'। (पार्जीटर, मार्कण्डेय पुराण

पृष्ठ ३३४)। पहले अंग, वंग तथा कलिंग के घनिष्ट सम्बन्ध तथा इन देशों के प्रति ब्राह्मण संस्थाओं से प्राप्त घृणास्पद अस्वीकृति को बताया जा चुका है।

महाभारत में एक स्थान पर (८, ४४, २०६६) कलिंगों की गणना उन ज्ञातियों के मध्य में की गई है जिनका धर्म बुरा है (दुर्धर्म) किन्तु अन्य स्थान (८, ४५, २०८४) पर उनकी गणना कुरु, पञ्चाल, साल्व, मत्स्य, नैमिष आदि ब्राह्मण धर्म के सर्वोच्च राष्ट्रों के साथ उन जातियों में की गई है जो शाश्वत नियम को जानते हैं (धर्मं जानन्ति शाश्वतम्)। यह भाव परिवर्तन निस्सन्देह कलिंग के उस महत्व के कारण है जो उसे उस समय से प्राप्त है जब से भारतीय सभ्यता बंगाल के आस पास फैली। बौद्ध धर्म का कलिंग में एक पवित्र स्थान था। तोलेमी कृष्णा और कावेरी नदियों के मध्य मैसोलाय के बीच में कल्लिग नगर का उल्लेख करते हैं। गंजम जिले के बन्दरगाह कलिंगपटम ने अब भी क्षेत्र के प्राचीन नाम को स्थिर रखा है। सम्पूर्ण मलय संसार में सभी उत्पत्ति के भारतीयों के लिए प्रयुक्त क्लिंग नाम सुदूर पूर्व में भारतीय सभ्यता के विस्तार में कलिंग के व्यक्तियों के महत्वपूर्ण भाग का प्रमाण देता है।

कलिंग से मिलता जुलता अन्य शब्द लिखित ग्रन्थों में केवल बाद को आता है और इसके तैलंग, त्रिलिंग आदि विभिन्न रूप मिलते हैं। मार्कण्डेय पुराण (५८, २८) तथा वायु पुराण (४५, १११) तिलंग लिखते हैं। शिलालेखों में भी तिलिंग, तेलुंग, तिरिलिंग, त्रिकलिंग रूप मिलते हैं। अरबी तथा फारसी के लेखक तिलंग, तिलिंग, तिलिंगन लिखते हैं। भारत की भाषाओं की सूची में इस देश की भाषा तेलुगू कहलाती है। १४ वीं शताब्दी का एक शिलालेख देश की सीमा इस प्रकार खींचता है 'पश्चिम तथा पूर्व के दो प्रसिद्ध महाराष्ट्र और कलिंग देश, दक्षिण तथा उत्तर में पांड्य तथा कान्यकुब्ज यही देश तिलिंग कहलाता है'*

तोलेमी त्रिलिंगोन को राजसी निवासस्थान लिखते हैं जिसकी स्थिति गंगा नदी के पार के भारत में १५४° पूर्व×१८° उत्तर में बतलाते हैं। नगर को त्रिग्लिप्तन (त्रिग्लिफोन) भी कहते हैं। तोलेमी के नक्शे पर त्रिलिंगोन वर्तमान अराकान में भूभाग के आन्तरिक प्रदेश में अकयाब की ऊँचाइयों पर स्थित है। वहाँ पर यह नाम अब भी तलैंग के रूप में सुरक्षित है। ऐसा ज्ञात होता है कि बर्मी लोग इस नाम से मोन जाति का नामकरण करते थे जो उनसे पूर्व पीगू में रहती थी

*(पश्चात् पुरस्ताद् यश्य देशौ ख्यातौ महाराष्ट्र कलिंग संज्ञौ। अवाग् उदक पांड्य क—कान्यकुब्जौ देशस्स तत्रास्ति तिलिंग नाम - श्रीरगम प्लेट्स शक १२८०-एपीग्रैफिका इन्डिका १४,६०)।

और जिसने एक सभ्यता का विस्तार किया जो भारत की एक शाखा बनाती है। सर आर्थर फैरे के अनुसार यह साधारणतया स्वीकृत किया जा सकता है कि तलैंग=तेलिंग। फोर्च हैमर ने एक अन्य अर्थ प्रस्तावित किया है जो मोन भाषा के आधार पर है। मोन भाषा में तलैंग का अर्थ है "पैर से कुचला हुआ"। इस अपमान सूचक शब्द ने मोन जातियों के पराजय के पश्चात शुद्ध जातीय नाम का स्थान ले लिया होगा। फैरे स्वयं यह विचार करते हैं कि यद्यपि कलिंग शब्द पीगू के इतिहासों में आता है किन्तु तैलिंगान शब्द वहां कहीं भी नहीं मिलता है। यह दशा भारत की दशा के बिल्कुल समानान्तर है। हमारे सम्मुख अत्यन्त प्राचीन रूप का नाम है जिस पर साहित्य ने अधिक समय तक ध्यान नहीं दिया है। तोलेमी के द्वारा त्रिलिंगोन के अतिरिक्त त्रिग्लिप्तन अथवा त्रिग्लिफोन नाम प्रयुक्त किये गये हैं। ये शब्द त्रि (संस्कृत "तीन")+ग्लिप्तन अथवा ग्लिफोन से बने हैं जिन दोनों का अर्थ है छेनी से कटा हुआ तथा खुदा हुआ। त्रिग्लिफ (त्रिग्लिफोस अथवा त्रिग्लिफोन; इसका लिंग अनिश्चित है) शिल्प विद्या का एक शब्द है जो सजावट की बेलों की एक विशेषता का नाम है। त्रिग्लिफ़ वह विशेष आकृति है जो तीन-तीन में विभक्त समानान्तर नालियों से बनी होती है जिसमें नीचे की ओर शुण्डाकार सिरे होते हैं जो छत से नालियों में बहते हुये तथा रुके हुये पानी के प्रतीक हैं। यहाँ पर किसी भी यूनानी व्यक्ति को एक परिचित मूर्ति—पत्थर के लिंग का स्मरण कराया जा सकता है जो लम्बी नालियों से सजा होता है जिनसे पवित्र जल बूँदों में गिरता है। अब भी तिलिंग आदि का अर्थ त्रिलिंग से किया जाता है और त्रिलिंग का अर्थ तीन लिंगों का देश है अर्थात् तेलुगू देश के सीमान्त के तीन पर्वतों—कालेश्वर, श्रीशैल और भीमेश्वर पर शिव का दैवी प्रकाश। कालेश्वर कृष्णा नदी पर उस दर्रे के द्वार पर स्थित है जिससे होकर वह मैदान में बहती है। श्रीशैल चाँदा ज़िले में वैनगंगा तथा गोदावरी नदियों के संगम पर है; भीमेश्वर पश्चिमी घाट में उस स्थान पर है जहाँ तेलुगू देश मराठा देश तथा मैसूर को स्पर्श करता है। प्लिनी के द्वारा भी तिलिंग—त्रिलिंग के स्पष्टीकरण का दूसरा प्रमाण मिलता है। यदि कोई कैम्पबेल (तेलुगू की व्याकरण—भूमिका) से इस बात पर सहमत है कि मोदोगलिंग का विश्लेषण मोदोग+लिंग किया जाय, तो मोदोग शब्द तेलुगू के मडुग शब्द का प्रतिनिधित्व करता है जो मुडु (तीन) शब्द का काव्यात्मक रूप है। किन्तु काल्डवेल इस अर्थ का विरोध करते हैं। उनके अनुसार मूडुग शब्द का प्रयोग मिथ्यादम्भ होगा। वे केवल यह विश्लेषण मानने को तैयार हैं:—

मोदो=मुड=३, गलिंग=कलिंग—अर्थात तीन कलिंग जो मध्य युग के बहुत से शिलालेखों का त्रिकलिंग है।

उत्कल—मेकल

इन दोनों नामों में उतना ही घनिष्ट सम्बन्ध है जो अंग और वंग में। रामायण* में इनका प्रसंग एक साथ आता है—मेकलान् उत्कलांश्चैव। क्षेमेन्द्र** उन्हें और अधिक घनिष्टता से मिलाते हैं; मेकलोत्कलिका:। महाभारत में भी यही बात मिलती है: मेकलोत्कला: कलिंगा:। इन जातियों के विषय में मार्कण्डेय पुराण के अनुवाद (पृष्ठ ३२६) में पार्जीटर की टिप्पणी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनका कथन है कि उत्कल जातियां भली भाँति परिचित थीं और बहुत प्रारम्भिक उत्पत्ति की एक जंगली ज्ञाति का निर्माण करती थीं क्योंकि उनके आस पास की जातियों से उनका निकट सम्पर्क नहीं प्रतीत होता है……उत्कल में छोटा नागपुर का दक्षिणी भाग, उड़ीसा की सहायक नदियों वाला राज्य तथा बलसोर जिला सम्मिलित थे।

यदि उत्कल का नाम अपनी शक्ति के साथ सुरक्षित है, तो मेकल का नाम धर्म से सम्बन्धित स्मृति के रूप में अवशिष्ट है। मेकल की ऊँचाइयों में भारत की एक महत्वपूर्ण तथा पवित्र सरिता नर्मदा का जन्म होता है। अमर तथा अन्य कोषकारों ने उसे एक पवित्र पदवी "मेकलकन्यका" (मेकल की पुत्री) दी है। यहाँ भी कोई निश्चित रूप न स्थापित होने के कारण यह नाम साधारण "मेखला" शब्द की समानता से आकृष्ट हुआ है और लिखित रूप दोनों के मध्य में आता है। अमर के टीकाकार सर्वानन्द दोनों को प्रामाणिक मानते हैं:—(मेकलाचल प्रभवत्वाद् मेकलकन्यका मेखल कन्यकेति केचित्। यन्मेखलाद्भवति मेखलशैलपुत्री इति खकाखान) मेकल नाम की अप्रसिद्धता दु:खद रूप में महाभारत के कलकत्ता के प्रकाशन में प्रकट है जिसमें कई बार साधारण 'मेला' शब्द से प्रभावित मेलक नाम मुद्रित है। ब्रिटिश भारत के राजकीय भूगोल में प्राचीन नाम सुरक्षित है। मैकल श्रेणी के नाम के अन्तर्गत यह उस पर्वत शृंखला का नाम है जो नर्मदा नदी के उद्गम (अमरकंटक से आरम्भ होती है और दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर बालाघाट (Balaghat) जिले तक विस्तृत है।

उत्कल देश का एक अन्य नाम भी है जिससे आधुनिक उड़ीसा का नाम गृहीत है। उड़ीसा वास्तव में ओड्रदेश 'ओड्र का देश' है। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त उलिक्स, उडेज़, ओरिस आदि ओड्रदेश से उद्धृत हैं। आजकल उड़ीसा की

* (IV, 41, 9B.; 41, 14G,) ** (रामायणमञ्जरी—IV, 234)

भाषा के लिये सर्वमान्य उड़िया शब्द प्रयुक्त किया जाता है जो ओड्र का ही परिवर्तित रूप है। तेलिंग की भाँति इसका भी कोई लीखित रूप निश्चित न होने के कारण कभी कभी एक ही ग्रन्थ में उड्र, ओड्र, औड्र—ये विभिन्न रूप मिलते हैं।

जातीय परिवार उड्(र्) अ (उण्ड) के साथ ही साथ स्वाभाविक रूप से पुण्ड, पुण्ड्र, तथा उसके माध्यमिक रूप पौण्ड्र, पौण्ड्रक, पौण्ड्रिक भी प्राप्त होते हैं। छोटा नागपुर जो अंशत: पुण्ड्रों का प्राचीन क्षेत्र है अब भी (विशेषत: राँची जिले का दक्षिणी तथा पश्चिमी भाग) मुण्ड जातियों से बसा है। यह भली-भाँति ज्ञात है कि मुंडा का नाम मैक्समूलर (Max Muller) ने उस भाषा परिवार के नाम के लिये रखा है जो दृढ़ता के साथ द्राविड़ी से प्रभावित है किन्तु जो पूर्वावस्था में स्वतन्त्र है तथा मोन-ख्मेर और मलय प्रायद्वीप की वन्य ज्ञातियों की बोलियों से सम्बद्ध है।

पुलिंद—कुलिंद

पुलिंदों का नाम सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (७,१८) उन्हें उदन्त्य के मध्य (आर्य) सीमाओं के बाहर "आंध्र, पुंड्र, शबर, मूतिब के साथ विभक्त करता है जो विश्वामित्र के वंश से सम्बन्धित किन्तु दस्यु जातियों से बनी हैं। बौद्ध धर्म में उनके लिये 'नीचकुल' 'म्लेच्छ' 'प्रत्यन्त जनपद' (सीमान्त के जन समुदाय) आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैन साहित्य में ये म्लेच्छों की सूची में आते हैं। "रामायण" में इनकी स्थिति भारत के उत्तर में मत्स्य, शूरसेन अर्थात् अलवर और मथुरा के मध्य में बतलाई गई है। "महाभारत" में भी वे म्लेच्छ समझे गये हैं। उनका नाम इस महाकाव्य में बहुधा आता है किन्तु सर्वदा बुरी जातियों के समुदायों में जैसे पौंड्र, यवन, किरात, चीन तथा अन्य म्लेच्छ (१,१७५,६६८५); द्रविड़, आन्ध्र तथा अन्य म्लेच्छ (५,१६०,५५१०) दशार्ण मेकल, उत्कल (६,६,३४७)। "बृहत्कथाश्लोक संग्रह" में जो सर्वदा वास्तविकता अथवा रूपात्मक तथ्यों से पूर्ण है, पुलिंद का महत्वपूर्ण चित्र खींचा गया है (८,३१) जो इस प्रकार है :—

युवा पुरुषों का एक समुदाय आखेट के लिये निकलता है। एक युवक अपने समुदाय के व्यक्तियों से कहता है, "मैं अपने सम्मुख इन पुलिंदों की असंख्य सेना को देखता हूँ जो वन की गुफाओं में निवास करते हैं तथा जो अग्नि के द्वारा किये हुये कृष्ण वर्ण के तनों के वन के सदृश प्रतीत होते हैं। उनके वर्ग में एक मोटा, बौने के समान छोटे कद वाला, ताम्रवर्ण के नेत्रों वाला, एक व्यक्ति आता है। यह उनका प्रमुख सिंह शत्रु ("सिंहों का शत्रु") था। उसने प्रधान सेनापति का

अभिवादन किया। सेनापति ने उससे पूछा "मेरे भाई की स्त्री कैसी है? और क्या तुम्हारे दो पुत्र शाम्बर (मृग) तथा सारंङ्ग (एक प्रकार का मृग) स्वस्थ हैं? हमंवत ने तिल के तेल के एक सहस्र घड़ों के अतिरिक्त नील, कुंकुम, तथा केसर में रंगी हुई वस्तुओं की एक गाँठ सिंहशत्रु को देने के लिये आज्ञा दी.......तब हल लोगों के सम्मुख मृग आये, जिनके अंग हीरे के बुदबुदों के सदृश कान्तिमान थे। झुंडों में वे हवा की गति के समान निकलते चले गये.......एक ने पुलिन्दों के प्रमुख से पूछा 'हममें किसी ने ऐसे पशु नहीं देखे, यदि आप इनके विषय में जानते हों, तो हमें समझाइये। पुलिन्द ने कहा "मैं तो इनके विषय में कुछ नहीं जानता किन्तु मेरे पिता जानते थे। एक बार एक अवसर पर उन्होंने मुझे कुछ सिखाया था जिसे मैं तुमसे बतलाऊँगा।..........जिसका तीर एक बार निकल कर इन पशुओं की प्रदक्षिणा करके पुन: निषंग में प्रवेश कर जाता है उसे चक्रवर्तिन् समझो' (लैकोटी के अनुवाद पृष्ठ ५५ के आधार पर)। यहाँ पर सभी चिन्ह चेतनायुक्त प्रतीत होते हैं। पुलिन्दों की तुलना जले हुये तनों से की गई है। "नाट्यशास्त्र' (२१,८६) में वास्तव में ऐसा प्राप्त होता है कि पुलिन्द कृष्णवर्ण की आकृति का प्रतिनिधित्व करता है। प्रमुख, बौना (निखर्व) के कद का है। प्राग्द्रविड़ व्यक्ति.......द्रविड़ों से अपना अन्तर छोटे कद के द्वारा करते हैं ("थर्सटन—दी मद्रास प्रेसीडेन्सी" पृष्ठ १२४) प्रमुख के पुत्रों के नाम पशुओं के नाम के सदृश हैं। प्रतीकों की प्रथा अब भी पठारों की जंगली जातियों में फैली हुई है। निषंग में लौट आने वाले बाणों का तथा ज्योतिमान मृगों का इतिहास मुंडों अथवा सन्थालियों की घरेलू कहानियों में उपलब्ध है।

कुलिंदो ने उस ख्याति को नहीं प्राप्त कर पाया जिसे कि पुलिन्दों ने प्राप्त किया है। उनका नाम महाकाव्य काल के पश्चात् कम मिलता है किन्तु महाभारत में उनका नाम पुलिन्दों की अपेक्षा अधिक है। वे हिमालय के मध्य के उस प्रदेश में निवास करते हैं जो गजों तथा अश्वसमूहों से परिपूर्ण है, जिसमें किरात, तंगण तथा पुलिंद भी सैकड़ों की संख्या में मिश्रित हैं—यह प्रदेश सुरगणों को भी प्रिय है तथा असंख्य आश्चर्यजनक विशेषताओं से पूर्ण है। उनका राजा सुबाहु पांडवों का स्वागत करता है जब वे गंधमादन का पर्यवेक्षण करने के लिये निकलते हैं। लौटने पर वे उसी मार्ग का ही अनुगमन करते हैं तथा चीन, तुखार, दरद के मध्य से होकर जाते हैं। तत्पश्चात् वे पुलिंद के देश में पहुँचे जहाँ पर असंख्य हीरक मिलते हैं और हिमालय के उस क्षेत्र को, जहाँ का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है पार करके वे राजा सुबाहु के दुर्ग को देखते हैं।

वराहमिहिर की "बृहत्संहिता" में कुलिंद शब्द का अन्य रूप मिलता है। चौदहवें अध्याय में सम्पादक एच० कर्न ने कौणिन्द के पाठ को दो बार ग्रहण किया है जो इसी प्रकार के अन्य हस्तलिखित ग्रन्थों में कौलिन्द तथा कौलिन्द्र के रूप में प्राप्त होता है। किन्तु निस्सन्देह इसका प्रसंग कुलिन्द से है।

पुलिंद-कुलिंद, मेकल-उत्कल (उड्-पुंड्- मुंड समुदाय के साथ) कोसल-तोसल, अंग-वंग, कलिंग-त्रिलिंग उस विस्तीर्ण शृंखला की कड़ियाँ है जो काश्मीर की पूर्वी सीमाओं से प्रायद्वीप के मध्य तक विस्तृत है। इनमें से प्रत्येक जातीय युग्म का प्राय: एक ही नाम है, अन्तर केवल आदि वर्ण का है जैसे क और त, क और प, अ और व अथवा म और प)। इस प्रकार के शब्द निर्माण की प्रथा भारोपीय परिवार के लिये विदेशी हैं। इसके विपरीत यह एक वृहद् भाषा परिवार–आग्नेयदेशी– की विशेषता है तथा जिसमें भारत की मुंडा भाषाओं का परिवार सम्मिलित है है जिसे बहुधा 'कोलरियन' कहते हैं। डा० स्टेनकोनो जिन्होंने इन भाषाओं का विशेष रूप से अध्ययन किया है लिखते हैं*—मुंडा भाषाओं का मुख्य वर्तमान क्षेत्र छोटानागपुर का पठार है। वे मद्रास तथा मध्यप्रान्त के समीपवर्ती जिलों और महादेव पहाड़ियों में बोली जाती हैं। प्राय: सभी दशाओं में वे जंगलों तथा पहाड़ियों में पाई जाती हैं। मैदान तथा घाटियाँ, आर्य भाषाभाषी जन समुदाय से बसे हैं........मुंडा भाषायें पहले मध्य-भारत के विस्तृत क्षेत्र में तथा सम्भवत: गंगा नदी की घाटी में भी बोली जाती होंगी"। फ़ादर श्मिट (Father Schmidt) ने ने अपने मोन-ख्मेर तथा आग्नेयद्वीपी भाषाओं के अध्ययन में मुंडा भाषाओं की तुलना मोन-ख्मेर भाषाओं से की है और यह सूचित किया है कि उपसर्गों तथा प्रत्ययों की सहायता से शब्द निर्माण की व्यवस्था दोनों में समान है।

'अ—इन दो भाषा परिवारों में सभी व्यंजन, जो इन भाषाओं में मिलते हैं केवल ङ और नं, य और व के अपवाद के साथ साधारण उपसर्गों का काम दे सकते हैं और जैसा कि बहुत सी मोन–ख्मेर भाषाओं में है, मुंडा भाषाओं में भी ङ, नं, म, न अथवा द्रव वर्ण र (ल?) के, उपसर्ग तथा धातु के मध्य में, आगम द्वारा उपसर्गों का एक अन्य वर्ग प्राप्त होता है।'

'ब—अन्त: प्रत्यय न् मोन–ख्मेर भाषाओं में विशेषत: यन्त्रों के नाम के लिये तथा मुंडा भाषाओं में भावात्मक नामों के लिये, जो किसी कर्म के परिणाम के

*'Linguistic Survey of India' Vol IV—Munda and Dravidian Languages-Introduction P9

नाम होते हैं, प्रयुक्त होता है, किन्तु इस प्रकार के अन्तिम वाले रूप विशेष कर ख्मेर, बहनार तथा निकोबारी में न्यून नहीं है'।

ऊपर जिन नामों का अध्ययन किया जा चुका है वे फादर श्मिट (Schmidt) द्वारा वर्णित सर्वसाधारण लक्षणों से समानता रखते हैं। यहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति उन तुलनाओं के द्वारा अवश्य ही प्रभावित होगा, जो कि उन्हें एक सूत्र में आबद्ध करती हैं। तीन श्रेणियों कुलिंद–पुलिंद, अंग–बंग, कलिंग–त्रिलिंग के मध्य में अनुनासिक है जो अन्त:प्रत्यय हो सकता है। माध्यमिक श्रेणी उड्–पुँड्, मुंड अन्त: प्रत्यय की अस्थिरता को सूचित करती है। इसके अन्य रूपों, उण्ड, ओण्ड, ओण्ड्=उड् से इस बात की पुष्टि होती है। प्रश्न उठता है कि उत्कल और उड् के पर्यायवाची नाम वास्तव में एक ही तो नहीं है जिनमें अन्त: प्रत्यय 'क' की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का अन्तर है। कोई भी उत् (क) ल=उड्–र बता सकता है। एक दशा में दन्त्य तथा दूसरे में मूर्धन्य के अन्तर से कोई कठिनाई नहीं पड़ती है। यदि उत्कल-उड् का सम्बन्ध मान लिया जाय तो मेकल–मुंड (–मुन्ड्, मुण्ड्) का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अवशिष्ट दो श्रेणियों कोसल-तोसल, उत्कल-मेकल में अन्तिम भाग समान हैं।

अच्छ-वच्छ

अच्छ-वच्छ समान रूप से अग-वंग से मिलते हैं। अच्छ-वच्छ का नाम जैन ग्रन्थों में एक साथ आता है। उदाहरणार्थ 'भगवती (१५, १७) में जंगली जातियों के विरुद्ध स्थानीय जातियों की एक सूची है:—

अंग, वंग, मगह, मलय, मालव्य, अच्छ, वच्छ, कोच्छ आदि।

इसके अतिरिक्त 'प्रज्ञापना' में आरिय जातियों की सूची मिलती है: वेराड वत्थ (ंच्छ) वरण अत्था (ंच्छा)। टीकाकार वत्सेषु वैराट पुरम्—ऐसा स्पष्ट करता है किन्तु वेबर का कथन है कि वत्स का उल्लेख कोसम्बी (कौशाम्बी) नगर के साथ, जो उनकी राजधानी है, पूर्व के छन्द में किया जा चुका है। नेमिचन्द्र ने अपनी टीका में मच्छ=मत्स्य बतलाया है और वैराट वास्तव में मत्स्य देश की राजधानी है। किन्तु अच्छ अज्ञात है।

इस प्रकार अच्छ-वच्छ के विषय में कोई निश्चित एवं प्रामाणिक बात नहीं कही जा सकती।

तक्कोल—कक्कोल

तक्कोल-कक्कोल में हम विकल्प से एक नगर तथा पौधे का नाम पाते हैं। इससे हमें आग्नेयदेशी प्रभाव का स्मरण होता है। मैनवरिंग तथा ग्रुन्वेडेल के

लेपचा भाषा के शब्द कोष में हम पृष्ठ १० पर कॅक-लो शब्द (इलायची) और पृष्ठ ११६ पर तॅ-कोल (एक तरह का पौधा) तथा तू-क-ची (शाक के समान) शब्द पाते हैं।

जैसा कि अधिकांश मोन-ख्मेर भाषाओं में मिलता है, उसी प्रकार मुंडा भाषाओं में उपसर्ग तथा धातु के मध्य में अनुनासिक अथवा द्रव-वर्ण के आगम द्वारा उपसर्गों की एक द्वितीय श्रेणी प्राप्त होती है। अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि भारत के भौगोलिक नामों में से जो कम्, कर्, कल्, तम्, तर्, तल्, पम्, पर्, पल् से आरम्भ होते हैं. वे कभी कभी भूतकाल के आग्नेयदेशी प्रभाव को सूचित करते हैं। यह सम्भव है कि कलिंग तिलिंग इस भेद के अन्तर्गत हों और उनका विश्लेषण इस प्रकार हो:—

कल्-इ (ङ्) ग, तिल्-इ (ङ्) ग।

प्रथम स्वर का परिवर्तन एक अज्ञात स्वर एं के अनुमान द्वारा सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है जो भारत की आर्य भाषाओं में नहीं है। कलिंग का रूप बहुत आरम्भ काल में स्थापित हो गया होगा, क्योंकि आर्यों की सभ्यता के पूर्वी तट तक फैल जाने पर भारत के राजनैतिक इतिहास में कलिंग का बड़ा महत्व था जिसका प्रमाण अशोक तथा खारवेल के शिलालेखों में मिलता है। तिलिंग के विषय में। ऐसी बात नहीं है। आर्यों तथा द्रविड़ों के आक्रमण से वह दो भागों में विभक्त हो गया था। इसके नाम के विभिन्न रूपों से राजनैतिक परिवर्तनों की सूचना मिलती है

इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कुलिंद, पुलिंद की उत्पत्ति क्-एं-ल-इन्द, प्-एं-ल् इन्द से हुई हो। हमें कलिंद, कालिंदी शब्द मिलते हैं तथा कई बार कलिंग के अतिरिक्त कुलिंग रूप देखने में आया है। फादर शिमट ने बिना विचार किये कलिंग की जो व्युत्पति बताई है, उसमें नये अन्वेषणों की आवश्यकता है। उन्होंने निम्न सूची दी है:—

कलाङ् (निकोबारी) —'सफ़ेद पेट वाली एक समुद्री चील = ख्मेर-खेङ्, स्तींग—क्लिङ् (संस्कृत कलिंग)।

लंका

संस्कृत में लंका राक्षसों के द्वीप का नाम है जहाँ भगवान राम का शत्रु रावण राज्य करता था। यूल तथा बर्नेल की शब्दावली में 'लुंक' किसी भी द्वीप का साधारण नाम है। इन विद्वानों ने सम्भवत: इनका संकेत ब्राउन के तेलुगू शब्द-कोष से प्राप्त किया है। वे एक दूसरा अर्थ भी सूचित करते हैं अर्थात एक प्रकार की तेज़ चुरट जो मद्रास प्रेसीडेन्सी में बहुत कीमती समझी जाती है और उसका

यह नाम इसलिये है कि यह गोदावरी डेल्टा के 'द्वीपों' में उगी हुई (जिसके लिए स्थानीय शब्द लंक है) तम्बाकू से बनती है।" लंक, लंका शब्द मलय प्रायद्वीप के समीप के भौगोलिक नामों में भी मिलते हैं।

कामरूप

यदि कामरूप शब्द को संस्कृत भाषा के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह नियमित संयुक्त शब्द है जो प्रयोग में लाया जाता था तथा जिसका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है :

काम (इच्छा)+रूप (शक्ल)

अधिकृत नामावली में अब भी आसाम का पश्चिमी भाग कामरूप नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु धार्मिक अर्थ में कामरूप के अन्तर्गत भूटान, कुच, विहार तथा रंगपुर भी सम्मिलित हैं। गौहाटी के समीप का कामाख्या का मन्दिर गूढ़ ज्ञान का केन्द्र समझा जाता है। यह एक पर्वतीय क्षेत्र है जहां भारत की आर्य, मुंडा, तिब्बत-बर्मी तथा मोन-ख्मेर भाषा परिवारों की सभी बोलियाँ मिलती है।

भास्करवर्मन् के राजवंश के पश्चात् कामरूप जंगली जातियों के अधिकार में रहा जिन्होंने शनैः शनैः हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। सबसे अच्छा काल अहोम, तई अथवा शन जाति के लोगों का है जो एक प्रकार की आदिम सभ्यता का निर्माण करने तथा १३ वीं से १६ वीं शताब्दी तक अपनी सत्ता स्थिर रखने में सफल हुये।

ब्राह्मणों ने स्वाभाविक रीति से कामरूप नाम को स्पष्ट करने के लिये एक कथानक का आविष्कार किया है। वहीं पर शिव में कोमल काम भावना उत्पन्न करने के लिये भेजे हुये कामदेव ने शिव की वक्र दृष्टि से भस्म होकर अपनी वास्तविक शक्ल (रूप) को प्राप्त किया। साथ ही साथ यह कहना पर्याप्त होगा कि ब्रह्मदेश की सीमा पर आसाम राज्य के पूर्वी प्रान्त का नाम नमरूप था। किसी भी ब्राह्मण को नमरूप शब्द का नामरूप अर्थ बताने में कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। नामरूप एक संयुक्त शब्द है जो इतना स्वाभाविक और परिचित है कि उससे स्वयं अर्थ प्रकट हो जाता है। हमें जंगली नाम मिलते हैं जिसमें रूप अंश, जिसके लिये संस्कृत में रूप है, आदि के कम—और नमसे सम्बद्ध है।

ताम्रलिप्ति

ताम्रलिप्ति सदियों तक बंगाल की खाड़ी का सबसे बड़ा बन्दरगाह रहा। लैसेन (Lassen) के समय से भारतीयों ने यह मान लिया है कि 'ताम्रलिप्ति' एक संस्कृत शब्द है और इसका सम्बन्ध संस्कृत के ताम्र शब्द से है। किन्तु "के० पी० जायस-

वाल"* का मत है कि इस शब्द का ताम्र अथवा संस्कृत के अन्य किसी शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका तर्क इस भांति है :

प्रारम्भिक रूप से अधिक निकटता रखने वाला 'दश कुमार चरित' में दामलिप्त रूप मिलता है। दामलिप्त का मुख्य अंश दामल् आरम्भ के तामिल रूप द्रमिड से थोड़ा ही भिन्न है। द्रमिड के परिवर्तित रूप संस्कृत में द्रविड़ तथा पाली में दोमिलो, जैसा 'महावंश' में है, मिलते हैं। तारानाथ किसी प्राचीन आधार पर द्रमिल रूप देते हैं।

दूसरा अंश–इप्त अथवा—इप्ति स्पष्टतया संस्कृतिक नहीं है। इसका आदि रूप पाली के इत्ति में सुरक्षित है जैसा तामल्–इत्ति में है। तामिल भाषा में अत्ति अथवा–इत्ति नपुंसक स्त्रीलिंग में अन्त होनेवाले हैं। हिन्दू लेखकों ने प्राकृत व्याकरण के नियमों का प्रयोग किया और वे–त्ति को–प्ति में लाये।

तामिल में द्रमिड़ का प्राचीन रूप तिरमिड है ("काल्डवेल" भूमिका पृष्ठ १३)। संस्कृत के ताम्रल–(जैसे महाभारत का ताम्रल्–इप्ति) तथा ताभल्–(जैसे वृहत्संहिता का तामलिप्ति) प्राचीन तिरमिड से प्राप्त हुये हैं।

इस प्रकार ताम्रलिप्ति तथा दामलिप्त के प्रारम्भिक रूप तिरमिडत्ति तथा द्रमिडत्ति रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों रूप प्रचलित रहे होंगे—पहला प्राचीन रूप के तौर पर तथा दूसरा सर्वमान्य होने के कारण (इसके वर्तमान अवशेष तामलुक से सिद्ध होता है कि त वाला उच्चारण आर्यों में सर्वमान्य था। इसका संस्कृत का रूप दवड़िका अथवा द्राविड़िका होगा।

इसके दोनों अंश–आधार दामल् अथवा तामल् तथा अन्त का-इत्ति अथवा त्ति द्राविड़ी भाषा के हैं। इतना यह स्थापित करने के लिए पर्याप्त है कि तामलित्ति आरम्भ में द्रविड़ों का नगर था जिसकी नींव द्रविड़ों ने गंगा नदी के डेल्टा तथा उड़ीसा में आर्यों के बस जाने के पूर्व डाली थी।

कुछ भी हो, यह एक अपूर्व बात है कि ऐसे प्रसिद्ध नगर का कभी कोई निश्चित रूप नहीं रहा। हेमचन्द्र के शब्द कोष में इस नाम के चार रूप मिलते हैं।

तामलिप्ता, दामलिप्त, तामलिप्ती, तमालिनी।

नैपाल

नैपाल मुख्य (अर्थात वह घाटी जिसमें वर्तमान काठमंडू राजधानी स्थित है)के आदिम निवासी नेवार जाति के व्यक्ति हैं। नेपाल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है :—

*Ethnic origin of Tamralipti (Indian Antiquary Vol. 43)

गोरखा लोगों का पहाड़ी क्षेत्र हिमालय पर्वत के निवासियों (जिन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार नहीं किया है) तथा तिब्बतियों द्वारा 'पाल' कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाल देश के उस भाग का नाम, जिसमें नेवार जातियों का निवास स्थान था, नें होगा तथा वहाँ के लोगों को हिन्दुओं ने नेवार अथवा "नें के निवासी" कहा। पूर्वी नैपाल तथा सिक्किम अब भी आदिम लेपचा जाति के व्यक्तियों द्वारा नें कहा जाता है और वे इस शब्द का अर्थ 'रक्षा अथवा निवास के लिये गुफाओं का स्थान' बतलाते हैं। हिन्द-चीन की बहुत सी सम्बन्धित जातियों की बोलियों में नें का अर्थ 'निवास स्थान' है। तिब्बत-बर्मी समुदाय में भी यही धातु इसी अर्थ में प्रयुक्त होती है और लामा धर्म में यह साधारणतया पवित्र गुफाओं तथा अन्य पवित्र स्थानों तक सीमित है। सम्भवत: यह प्राग्-लामा अर्थात नेवारियों के द्वारा भी इसी अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था, जिन्होंने तथाकथित नैपाली-बौद्धधर्म को जन्म दिया। कुछ नेवार जाति के व्यक्ति अब भी बौद्धमार्गियों के नाम से बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं किन्तु बहुत से अपने को शैवमार्गी बतलाते हैं। हिमालय के इस ओर के प्राचीन बौद्धों के नें अथवा पवित्र स्थान, जैसे कशर और शम्भूनाथ स्तूप, सब पाल देश की घाटी (नेपाल मुख्य) में स्थित हैं। इस प्रकार 'नेपाल' शब्द का अर्थ पाल देश का नें (अर्थात निवास स्थान, अथवा मुख्य स्थान अथवा पवित्र स्थान) प्रतीत होता है और यह समीपवर्ती लेपचा जाति के नें देश से भिन्न है।

देवी, देवताओं तथा धर्म सम्बन्धी नाम

इन्द्र

'इंद्र' के विषय में सायणाचार्य से लेकर आधुनिक पौर्वात्य भाषाशास्त्रियों तक कोई भी किसी निर्णय पर पहुँचने में समर्थ नहीं हुये हैं। श्री जयनाथ पति का मत है कि अब बहुत से स्वतन्त्र प्रमाण हैं जिनसे इन देवता को आर्येतर उत्पत्ति का बताया जा सकता है। उनका सारांश नीचे दिया जाता है:—

१—केवल इन्द्र ही ऐसे देवता हैं जो चाल्डिया के देवताओं की भाँति दाढ़ी रखते हैं (ऋग्वेद २, ११, ७; ८, ३६, ६; १०, २३, १, और ४; १०, २६, ७— अग्निशिखा की तुलना भी दाढ़ी से की गई है किन्तु वास्तव में इसका यह अर्थ

नहीं था; अत: पुशान की दाढ़ी का केवल एक स्थान पर उल्लेख अलंकारिक ढंग से किया गया है)।

२—टेलर (Taylor) नामक विद्वान का तम है* कि आर्य लोग मूर्तियों से अनभिज्ञ थे। यदि इनका कोई प्रसंग ऋग्वेद में आता भी है तो वह इन्द्र के लिए है (ऋ० वे० ४, २४, १०; ८, १, ५)

३—ऋग्वेद में वे "कुशों के देवता" (१, १०, ११) कहे गये हैं तथा प्राचीन हेब्रू और यूनानी साहित्य में चुश नाम चाल्डिया के लोगों को दिया गया है (इसके अतिरिक्त बैबीलोन के प्राचीन साहित्य की पूर्ण परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि उसके प्राचीन निवासी एमे–कू [सुमेर की भाषा] तथा एमेसल [अक्कद की भाषा ?] दो भाषायें बोलते थे। कुश नाम की उत्पत्ति कदाचित उनकी भाषाओं के स्थानोय नामों से हुई हो।

४—ऋग्वेद (१०, १२४, २) में वे स्पष्ट रीति से अज्ञात तथा दूसरी परम्परा के अतिथि (१०, १२४, ३) कहे गये हैं।

५—ऋग्वेद के कई स्थानों पर (६, १६,२ (अ); १६, ६ (अ); २०, २ (अ); २१.६ (अ); २२, १ (अ) आदि।]**

इस शब्द का उच्चारण तीन मात्रा वाले शब्द में होता है, जैसा कि छन्द के द्वारा संकेत किया जाता है। नियमों के द्वारा वास्तव में यही ऐच्छिक है, यदि यह चाल्डिया के इन्द्र इम्-दिन्गिर-इन्-द-र का अपभ्रंश है जो चन्द्र, अन्ध्र, वृत्र तथा मित्र शब्दों और कदाचित तामिल के इन्द्रु–अब मुन्द्रु–तब, ओन्द्रु–एक और गिन्द्रु, अनिन्द्रु प्रत्ययों से भी प्रभावित है। वृत्र तथा मित्र कम से कम हिन्द–ईरानी के युग से वर्तमान हैं, जैसा कि पारसियों के जेन्द अवेस्ता के वेरेथ्घ्न और मिथ् शब्दों के नियमित भौतिक रूपों से सिद्ध है। इन्द्र शब्द भी उसमें है।

उपर्युक्त मतों से हम किसी निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँच सकते। वेद में इन्द्र वायु-लोक के एक प्रधान देवता माने गये हैं। वैदिक साहित्य में इनका वर्णन कई स्थलों पर बिभिन्न रूपों में मिलता है। केवल इसी आधार पर उन्हें आर्येतर मान लेना उचित नहीं है। अवेस्ता में इन्द्र को दानव कहा गया है और वृत्रहन के स्थान पर उसमें 'वेरेथ्घ्न' शब्द मिलता है। इससे भी कोई निर्णयात्मक प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। केवल हम यही समझ सकते हैं कि भारतीय–ईरानी काल में वृत्र-नाशक

*Origin of the Aryans—page 309

**'Lectures on Rigveda' by "V. S. Ghate"—Professor of Sanskrit, Elphinstone College Bombay page 213

एवं विजयी इन्द्र के रूप वाले किसी देवता की पूजा होती थी। तामिल भाषा के इन्द्रु, मुद्रु, ओन्द्रु, गिन्द्रु, अनिन्द्रु आदि शब्दों से इन्द्रु शब्द की उत्पत्ति सम्भव हो, सकती है और ऐसा सिद्ध हो जाने पर 'इन्द्र' के आर्येतर होने में विश्वास किया जासकता है।

धर्म देवता

धर्म देवता, जिनकी उपासना अब भी पश्चिमी बंगाल में होती है, केवल विधाता ही नहीं, अपितु मनुष्यों के संरक्षक थे। इनके विषय में एक बिशेष बात ध्यान देने योग्य है। इनके बड़े वार्षिक पर्व पर सर्वत्र विधि-सम्बन्धी नृत्य तथा कभी कभी स्वाँग और नाटक भी होते हैं। उपासकों द्वारा इन नृत्यों के बिना यह वार्षिक पर्व नहीं मनाया जा सकता। इन नृत्यों के साथ ही साथ गान भी होता है। यह निश्चित बात है कि नृत्य का एक महत्वपूर्ण धार्मिक विधि होना आर्यों से सम्बन्ध नहीं रखता। इसका संबंध न तो बौद्ध, न ब्राह्मण धर्म से ही हो सकता है। यह द्राविड़ी और साथ ही साथ तिब्बत-चीनी हो सकता है किन्तु यह बलपूर्वक आग्नेय कहा जा सकता है। जैसा कि धर्म की उपासना के विषय में है, उसी प्रकार स्वयं धर्म देवता के विषय में भी ध्यान देने योग्य बात है। यदि हमारे पास इस उपासना का प्राग्-आर्यों से सम्बन्ध बतलाने का प्रमाण है, तो हम समान रूप से आर्य भाषा के 'धर्म' शब्द पर भी संदेह कर सकते हैं। प्रश्न उठता है कि यह नाम किसी प्रारम्भिक आर्येतर नाम का, जिसकी ध्वनि संस्कृत शब्द की ध्वनि से मिलती थी, संस्कृत रूप है अथवा यह केवल स्थानीय आर्येतर नाम का संस्कृत में अनुवाद है? पहिली बात सरल तथा अधिक माननीय है तथा दूसरी की संभावना कम है।

बंगाल के धर्म देवता का सर्वसाधारण प्रतीक, जिसके आधार पर अब भी उनकी पूजा होती है, कछुआ है। धर्म की बहुत सी मूर्तियाँ केवल कच्छप के ही रूप में हैं। इस प्रतीक का प्रयोग समुद्र के लोगों अथवा मछुआ लोगों में आरम्भ हुआ होगा। आग्नेय जातियों का अधिकतर इन्हीं से सम्बन्ध है। कुछ आग्नेय (कोल) तथा द्राविड़ी जातियों के सृष्टि विधान में कच्छप का महत्वपूर्ण भाग है औ बंगाल में धर्म की उपासना पर केन्द्रीभूत सृष्टिरचना का कथानक गोंड जैसी आदिम जातियों के सृष्टि रचना सम्बन्धी कथानकों से समानता रखता है। कछुआ के लिये डेल्टा के अधिकांश भाग में प्रचलित बँगला भाषा की एक बोली का शब्द दुड़ा अथवा दुड़ो है। प्राचीन बँगला में दुलि शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है मादा कछुआ। कछुआ के अर्थ वाला संस्कृत शब्द दद्रु मिलता है, जिसका अन्य रूप दर

है। प्राचीन भारत में देशी शब्दों जैसे दड्ड, दड तथा दर का अनुमान किया जाता है। अशोक के शिलालेखों में यह दुलि अथवा दुडि के रूप में मिलता है। इन समस्त शब्दों का आधार दुल, दुड, दुर, दड़, दर होगा। संस्कृत के कच्छप, कश्यप हिन्दी के कछुआ, काठुआ तथा काउठा शब्दों से मिलता जुलता संथाली में कटकोम शब्द मिलता है। कोल भाषाओं में हम ओम् प्रत्यय पाते हैं जो जड़ तथा चेतन दोनों संज्ञाओं में जोड़ा जाता है जैसे मेड़ोम, बकरा अथवा बकरी, डमकोम-बछड़ा, कटकोम-केंकटा, सदोम घोड़ा, मदकोम महुआ का वृक्ष, सरजोम साल वृक्ष, गोरोम पौत्र, हतोम बुआ अथवा भाभी, त्यरोम कीड़ा, अड़गोम सीढी, परकोम, पलँग, कलोम वर्ष आदि। सम्भवत: इसी से सम्बद्ध दूसरा प्रत्यय अम् है —सुतम, डोरा (आर्यशब्द सत्त–सूत्र से) सकम पत्ती, वनम वीणा, कोड़म वक्षस्थल, पोतम बतख इत्यादि।

आग्नेय बोलियों को बोलने वाले बंगालियों के पूर्वजों के मध्य में हम दुल, दुड, दुर, दड़, दर (=कछुआ) शब्दों की उपस्थिति का अनुमान कर सकते हैं जो आज बँगला के दुड़ा, दुड़ों तथा प्राचीन बँगला और बाद की संस्कृत के दुलि,दुली शब्द के उद्गम हैं। इसका विस्तार दुलोम दुड़ोम, दुरोम, दुल्-अम, दुड़-अम, दुर अम, अथवा दड़-ओम, दर-ओम दड़-अम, दर-अम (कछुये के अर्थ वाले) एक विशेष शब्द समूह में किया जा सकता है। इस प्रकार दुड़ोम, दुरम अथवा दरम, दरोम का सरल रीति से संस्कृत रूप धर्म (मध्य के अर्ध-तत्सम आर्य रूप धरम के द्वारा) करना बिल्कुल स्वाभाविक होगा।

समुद्र तथा अकाश के देवता "वरुण"

संस्कृत तथा पाली के मरू और पाली के मरू का सम्बन्ध बतलाते हुये, जाँ सिलुस्की (Jean Przyluski) ने यह दिखलाया है कि ये शब्द सम्भवत: भारतीय-आर्य द्वारा एक अथवा अनेक आर्येतर भाषाओं से ग्रहण किये गये हैं। मलय का 'बरोह' शब्द "निम्न देश" "समुद्र तट" तथा 'समुद्र' अर्थों को प्रकट करता है। मलय प्रायद्वीप की बोलियों में हम वरुह "मैदान" "चपटी भूमि"; तरुक, बरोक "समुद्र तट" तथा बारुह 'समुद्र' शब्द पाते हैं। कभी कभी आदि का वर्ण हट जाता है। बहनार में 'आर' का अर्थ "दल दल" "दल दल का जिला" अथवा 'जलमार्ग के समीप दलदल वाला निम्न स्थल का भाग' है। अनामाइट में आदि का वर्ण सुरक्षित है किन्तु अन्त का द्रव वर्ण इ में परिवर्तित हो गया है :

बर > बइ "तट" "समुद्र तट"।

भारतीय–आर्य के भरु तथा मरु शब्दों से हमें संस्कृत के मर्या, मर्यादा तथा पाली के मरियादा "सीमा" "समुद्रतट" की ओर आकर्षण होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन शब्दों का सम्बन्ध भारोपीय–परिवार की उत्तरी–पश्चिमी बोलियों से बतलाया है किन्तु यह संदिग्ध है। आग्नेयदेशी उत्पति का अनुमान करने से सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

यह सत्य है कि मरु तथा मर्या के अन्तिम वर्णों में भेद है किन्तु आग्नेयदेशी भाषाओं में स्वरों में प्राय: परिवर्तन हुआ करते हैं। अत: हमें दो भिन्न अन्तिम वर्णों से युक्त किन्तु एक ही मूल वाले मरु तथा मरि शब्दों पर ध्यान देना चाहिये।

जैसा प्राय: देखने में आता है, आग्नेयदेशी से समानता रखने वाला शब्द सुमेरी भाषा में मिलता है। डेलिश (Delitzsch) नामक विद्वान 'बर्' धातु की ओर संकेत करते हैं जिसके अर्थ वे निम्नलिखित बतलाते हैं:—

(अ) "बाह्य सीमा पर", "बाहर", "बिना" जिससे धातु का विस्तार होने पर बर "बाहर दूर" मिलता है।

(ब) "खुला हुआ स्थान" "मरुस्थल" जिससे तीन शब्द बने हैं—

गु–बर्–र "खुला हुआ स्थान", "चरागाह", "मरुस्थल", उर्–बर्–र गीदड़, सिग्ग–बर्–र जंगली बकरा।

आग्नेयदेशी तथा सुमेरी भाषाओं की समानता से हम प्राचीन–एशियाई मूल 'बर' धातु पर पहुँचते हैं। आरम्भ में यह जनसमुदायों के बाहर की स्थिति का नाम होगा। फलत: इसके अर्थ बिना जोती हुई भूमि, वन्य पशुओं, चरागाहों, मरुस्थलों, समुद्रतटों, दलदलों तथा समुद्र से भी होंगे। सुमेरी भाषा में मूल धातु बर् (जो कभी कभी बर में विस्तृत हो जाती है) अपने आदिवर्ण को बिकृत नहीं करती है। आग्नेय-देशी भाषाओं में मूल के विभिन्न रूप हो जाते हैं। सामी तथा भारतीय-आर्य के गृहीत शब्दों के लिये हम आग्नेयदेशी भाषाओं पर आते हैं। इनमें से भरु तथा मरु का प्रमाण बाद में मिलता है और ये विशेषत: व्यक्तिवाचक नामों में ही प्रयुक्त होते हैं। मर्यादा शब्द ही पीछे वैदिक काल में जाता है जिसका अर्थ 'सीमा' मूल धातु के अर्थ से समानता रखता है।

'अरब के सौदागर सुलेमान की भारत तथा चीन की यात्रा' में, जो सन् ८५१ में लिखी गई, सिन्धु के मुहाने तथा दयबुल नगर के उल्लेख के पश्चात् यह वर्णन मिलता है:—

यहीं पर भारत का पश्चिमी तट बरूचँ क्षेत्र में मिलता है, जहाँ पर बरूची नाम के भाले बनते हैं। अत: प्रत्यक्ष रूप से हम बरूच शब्द का सम्बन्ध भरु कच्छ के प्राचीन नाम से बतला सकते हैं जो आधुनिक बड़ोच है। आर्येतर शब्द भरु का अर्थ, इसके संस्कृत के पर्यायवाची कच्छ की भाँति 'निम्न प्रदेश', 'दलदल' है और वास्तव में संयुक्त शब्द भरु-कच्छ, समुद्र क समीपवर्ती क्षेत्र तथा उस क्षेत्र की राजधानी का नाम है।

भरु (कच्छ) तथा मरु (भूमि) महाभारत की भौगोलिक नामावली में आते हैं। इनसे समानता रखने वाले शब्द रामायण के दिग्वर्णन तथा अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। रामायण की विभिन्न प्रतियों में पश्चिमी क्षेत्रों का वर्णन अस्ताचल पर समाप्त होता है जहाँ पर वरुण देवता का प्रासाद बना है।

पाली जातक में राजा भरु (इसका अर्थ हम "समुद्र का राजा" भी ले सकते हैं) भरु देश में राज्य करता है और उसका राज्य अन्त में समुद्र में मिल जाता है। यदि भरु आर्येतर नाम है, तो राजा भरु का कथानक भी सम्भवत: आर्येतर है। उन विदेशी राजकुमारों के मध्य में, जो महाभारत में युधिष्ठिर के लिए उपहार लाते हैं, भरुकच्छ के शूद्रों का भी उल्लेख है। इन सब बातों से ब्राह्मणों की सभ्यता से वाह्य संसार की ओर संकेत होता है।

ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रन्थों के संक्षिप्त प्रसंगों के तथ्य इस प्रकार हैं:—

सिन्धु नदी के डेल्टा तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों की आर्येतर ज्ञातियों का विश्वास था कि समुद्र के नीचे जल के राजा का राज्य था और उस राजा का आदर एक बड़े देवता के रूप में होता था। उसी को पाली 'जातक' में भरुराज, 'महामायूरी' में भरुक और 'रामायण' में वरुण कहते हैं। किन्तु जबकि बौद्ध परम्परा के अनुसार उसके राज्य की स्थिति जल के नीचे है और उसके भक्त भरुकच्छ में हैं 'रामायण' का सम्पादन करने वालों के मतानुसार देवता पर्वत पर रहते हैं, अत: वरुण का सिंहासन वे अस्ताचल पर बतलाते हैं।

इस प्रकार हम निम्नलिखित समस्या पर आते हैं:—

यदि समुद्र के आर्येतर देवता (बरु/भरु) की समानता वरुण से की गई है, तो क्या वैदिक देवता के नाम का विकास बरु से नहीं हो सकता है? इसके उत्तर के लिए हम प्राचीन धातु बर् से आरम्भ करते हैं जिसका विस्तृत रूप (सुमेरी में) बर तथा (आग्नेयदेशी में) बरु हो गया है और इसमें—न प्रत्यय जोड़कर हम बरुन शब्द पाते हैं, जो वैदिक वरुण से निकटता रखता है। इस न की उपस्थिति हम प्राचीन-एशियाई काल में पा सकते हैं।

सन् १९२६ ई० के एक लेख में प्रोफेसर क्रेशमर'(Kretschmer) ने (अरुन) शब्द से आरम्भ कर इन नामों को समझाने का प्रयत्न किया, जिसका अर्थ हिट्टाइट में समुद्र से है। उक्त विद्वान हिट्टाइट के (अरुन) के साथ तीन नामों–वरुण, अरुन तथा उरुवन–का सम्बन्ध बताते हैं। प्राचीन-एशियाई धातु बर् के आधार पर जिसका विस्तृत रूप आग्नेयदेशी भाषाओं में बरु है तथा जो "समुद्र" आदि अर्थ रखता है, – न प्रत्यय जोड़कर हम एक ऐसा शब्द प्राप्त करते हैं जिससे केवल समुद्र के देवता का भारतीय नाम वरुण ही नहीं अपितु हिट्टाइट अथवा मितानी के उरुवन और अरुन तथा अन्त में हिट्टाइट के समुद्र के नाम—अरुन को भी स्पष्ट कर सकते हैं। कुछ आग्नेयदेशी भाषाओं में आदि का वर्ण पूर्णरूप से परिवर्तित हो जाता है जैसे आर, ओर। इस प्रकार ब से व और उसके लोप द्वारा बरु-वरुण अरुन शब्द स्पष्ट किये जा सकते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि वेदों में वरुण मुख्यत: आकाश के देवता के रूप में मिलता है।

महादेवी की उपासना

भारत तथा उसके समीपवर्ती पूर्वी प्रदेशों के प्राचीन धर्मों के अध्ययन तथा प्राचीन मूर्तियों की खोज से हम यह अनुमान करते हैं कि इन विस्तृत जनसमुदायों के क्षेत्रों में एक महादेवी की उपासना होती थी, जो सर्व प्रथम देवी माता के रूप में थीं। देवी के नामों की तुलना से प्राचीनता का प्रमाण मिलता है और कुछ हद तक इस उपासना के विस्तार का भी प्रमाण मिलता है। यह उपासना आर्यों के भारत में आक्रमण करने के बहुत पूर्व से लेकर अब तक वर्तमान है।

ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवी की उपासना यूनान, ईरान तथा सामी जनसमुदायों में प्रचलित थी और इस देवी को अर्दवी, अनाहित, ननई, अर्तेमिस नामों के अन्तर्गत ख्याति थी। इनमें से कोई रूप भारोपीय अथवा सामी भाषाओं के द्वारा स्पष्ट नहीं किये जा सकते। अन्त में हम निम्नलिखित श्रेणी को प्राप्त करते हैं: —

ईरान	अर्नेतिस	अनाहित अनाहिद
	फ़िलस्तीन	अनत,
सीरिया, एशिया माइनर	ननई	नना
	तनईस	

इन रूपों की उत्पत्ति के लिए हम प्रारम्भिक रूप तनई/ननई प्राप्त कर सकते हैं। द्विस्वरसंधि ऐ कभी कभी न और इ में परिवर्तित हो जाती है। आदि वर्ण, जो

पूर्णतया अनुनासिक नहीं है, न और शुद्ध दन्त्य के मध्य की परिवर्तनशील ध्वनि है, जो या तो त में लिखी जाती है अथवा लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार की ध्वनि कदाचित् आग्नेयदेशी भाषाओं में वर्तमान थी। उनमें जल के लिये हम निम्नलिखित रूप पाते हैं—मोन–दैक, बोलोवेन-तिअक, बहनार-दाक, ख्मेर–तिक अनामाइट–नुऑक।

आग्नेयदेशी भाषायें प्राग्–आर्य आधार का बहुत बड़ा अंश बनाती हैं और उनका सम्बन्ध सुमेरी से सम्भव हो सकता है। भारत में देवी माता के प्रचलित नामों में माता, अम्बा (माँ) हैं। यदि ननई" की व्युत्पत्ति नन में–इ प्रत्यय जोड़ने से बताई जा सकती है तो वास्तव में 'नन' ही प्रारम्भिक रूप होगा।

वैदिक कथानकों में देवता लोग परिमित शक्ति वाले होते हैं और देवी के ऊपर उनका प्रभुत्व रहता है। अदिति देवी का नाम इस नियम का अपवाद है। उसकी शक्ति अपरिमित है और वह देवताओं से श्रेष्ठ है। अत: उसका सम्बन्ध एशिया–माइनर की महादेवी से है किन्तु इस शब्द की उत्पत्ति अज्ञात तथा गूढ़ है।

महादेवी के नाम के सामी तथा भारोपीय भाषाओं के रूप दो रूपों में घटाये जा सकते हैं:—

(१) अर्तेमिस/अर्दवी–जो यूनान तथा फारस में प्रचलित हैं;

(२) तनई"/ननई" के प्रारम्भिक रूपों से दूसरे वर्ग का रूप उदधृत हुआ प्रतीत होता है। ये रूप प्राग्-आर्य क्षेत्र से ईरान तथा भारत में प्राप्त हुये। प्रथम वर्ग के नाम ईरानी तथा यूनानी के द्वारा प्राग्–आर्य भाषाओं से ग्रहण किये गये होंगे किन्तु यदि–ति प्रत्यय जो अनैतिस तथा अदिति दोनों में है, स्त्रीलिंग का चिन्ह है, तो सम्भवत: प्रारम्भिक तनई" / ननई" तथा ईरानी और वैदिक भाषाओं के गृहीत शब्दों के मध्य में सामी के माध्यमिक रूप को मानना पड़ेगा।

मध्ययुग में महादेवी की उपासना विभिन्न ज्ञातियों तथा वंशों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों तथा नामों में की जाती थी। किन्तु फिर भी उनकी समानता एक देवी–शिव की स्त्री से की जाती है। उमा शब्द का परम्परागत अर्थ सुप्रसिद्ध है किन्तु वास्तव में उमा तथा अम्बिका शब्द द्राविड़ी भाषा के अम्म शब्द से गृहीत हैं, जिसका अर्थ माता है और वह सम्पूर्ण संसार की माता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इससे हमें यह सूचना मिलती है कि देवी की पूजा प्रारम्भ में द्रविड़ जातियों में प्रचलित थी। पार्वती नाम से देवी का सम्बन्ध पर्वतीय ज्ञातियों से तथा हैमवती से विशेषत: हिमालय पर्वत के निवासियों से है। इसी प्रकार दुर्गा के नाम से देवी को

प्राप्त करने की प्रारम्भिक कठिनाई का संकेत होता है क्योंकि सम्भवत: उनकी पूजा वनों से आच्छादित पहाड़ियों की दुर्गम कन्दराओं में होती थी। गौरी नाम, जिससे पीत वर्ण की आकृति वाली देवी का बोध होता है, हिमालय की पुत्री के नाम के रूप में प्रयुक्त होता था, इसके साथ ही साथ जिससे यह सूचना मिलती है कि उसकी पूजा आरम्भ में भारत के उत्तरी सीमान्तों पर मंगोल जातियों में होती थी। काली देवी (कृष्ण वर्ण की देवी) का नाम सम्भवत: मूल-आस्ट्रोलायड समुदाय की जातियों की प्रारम्भिक पूजा की ओर संकेत करता है। अपर्णा जिसका संबन्ध परम्परा के अनुसार हिमालय की पुत्री के द्वारा शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिये हुये धार्मिक कृत्यों से है, वास्तव में पल्लव-वस्त्र रहित अर्थात नग्न देवी का अर्थ रखती है। इस प्रकार ऐसा ज्ञात होता है कि अपर्णा की पूजा प्रारम्भ में मूल-आस्ट्रोलायड वर्ग की वन्य जातियों और नग्न शबर (अर्थात नंगे शबर) के द्वारा की जाती थी। वराह मिहिर की 'बृहद्संहिता' में इन नग्न शबरों का भेद पर्ण शबर (अर्थात पल्लव-वस्त्र वाले शबरों से की गई है) जिनसे महायान बौद्धों ने पर्ण शबरी देवी को ग्रहण किया। दाक्षायणी, कौशिकी तथा कात्यायनी के नाम, ज्ञाति तथा परिवार की देवियों की ओर संकेत करते हैं।

पूजा

* "प्रोफेसर जार्ल कारपेन्टियर (Prof. Jarl Charpentier)"—पूजा शब्द का प्रारम्भिक अर्थ बतलाते हुये विभिन्न विद्वानों जैसे प्रोफेसर बारथोलोमी, हार्न, गुराडर्ट तथा किटेल द्वारा दी हुई शब्द की व्युत्पत्तियों का उल्लेख करते हैं और गुराडर्ट तथा किटेल के द्वारा दी हुई व्युत्पत्ति का समर्थन करते हैं। ये विद्वान पूजा शब्द का ग्रहण द्राविड़ी भाषा की एक क्रियात्मक धातु से बतलाते हैं, जिसके तामिल में पूशु तथा कनाडी में पूसु रूप प्राप्त होते हैं। इस धातु का अर्थ लेप करना, लसदार पदार्थ पोतना, रँगना आदि है। तत्पश्चात कार्पेन्टियर भारत की प्राचीन तथा आधुनिक विभिन्न जातियों के धार्मिक कृत्यों की तुलना के द्वारा इस व्युत्पति का समर्थन करते हैं तथा इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मूर्ति को जल, मधु, दधि आदि से धोना (अथवा लिंग पर जल छिड़कना) तथा उसपर कुछ लेप आदि लगाना विभिन्न कृत्यों में पूजा की मुख्य विशेषता है। अत: यही प्रारम्भिक अर्थ है जिसमें पूर्व के शब्द का प्रयोग होता था।

---

*Tha meaning and etymology of Puja' (Indian Antiquary Vol 56)

किन्तु श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती के कथनानुसार* इस मत में पूजा के मुख्य ध्येय के विषय में सन्देह किया जा सकता है। क्या पूजा का मुख्य कार्य मूर्ति को धोना तथा उसपर लेप करना है अथवा पुष्प चढ़ाना? वास्तव में देवताओं पर पुष्पों का चढ़ाना, मूर्ति को जल में स्नान कराने अथवा लेप करने की अपेक्षा, अधिक महत्व रखता है।

यहाँ पर हमें एम कोलिन्स द्वारा की हुई व्युत्पत्ति पर भी ध्यान देना है, जो संस्कृत के शब्द का सम्बन्ध तामिल के 'पू' शब्द (पुष्प) से बतलाते हैं। उनके मतानुसार तामिल के अनुमान किये हुये 'पूचेय' रूप से सम्भवत: संस्कृत के पूजा शब्द की उत्पत्ति हुई। तामिल में एक दूसरा क्रिया का रूप 'पू–च्चि' है जिसका अर्थ फूल चढ़ाना है। इस व्युत्पत्ति से पूजा शब्द का प्रारम्भिक अर्थ पुष्प चढ़ाने की ओर संकेत करता है।

उयुर्क्त विवेचन से एम० कोलिन्स के मत में अधिक सत्य मालूम पड़ता है क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से पूजा शब्द का तामिल के 'पू' 'पूचेय' 'पू–च्चि' शब्दों से अधिक समीपता प्रकट होती है।

संस्कृत की कुछ क्रियाएँ

संस्कृत की ब्रुड् अथवा व्रुड् (मज्जने) तथा उनसे समानता रखने वाली बुड्, संस्कृत की भृड्, बुल् तथा मुरड् (डूबना, गोता लगाना) क्रियाओं से समता रखने वाली द्राविड़ी भाषाओं में निम्नलिखित क्रियायें मिलती है :—

ब्रंगु, बुंगु (तेलुगू), मुकुर्ं मुगुर्ं (तुळु), मुऴक्कु, मुऴुक्कु, मुऴ़्क्कु, मुऴुङ्गु, मुळुंङ्गु (कन्नड़), मुऴुङ्गु (तामिल), मुक्कु, मुङ्ङु (मलयाळ), मुणुगु, (कन्नड़, तेलुगू), मुनुगु (तेलुगू)।

इन द्राविड़ी शब्दों में मात्रायें कु, ङ्कु, गु, ङ्गु, तथा ङ्ङु केवल सहायक हैं; धातु के लिये मुऴ़्, मुऴु्, मुर्, मुण्, मुन्, मुङ् तथा मुक् रूप मिलते हैं। धातु का प्रारम्भिक रूप मुऴ़् है। द्राविड़ी में ऴ़ बहुधा र तथा ळ में और ळ के द्वारा ण और न में परिवर्तित हो जाता है।

---

*'The meaning and etymology of Puja' (Indian Antiquary vol. 7)

यदि ब्रुड् तथा व्रुड् धातुओं के मूल रूप बुड्, बुड् तथा मुड् हैं, जैसा कि मराठी के बुड् शब्द से पुष्ट होता है, तो इन धातुओं के र और ऋ को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है ? यहाँ पर हम तेलुगू भाषा से समता रखने वाली विशेषता प्राप्त करते हैं, जिसके अनुसार आदि वर्ण के साथ स्वतन्त्र रूप से र जोड़ा जा सकता है।

किन्तु सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि क्रियाओं का अंतिम वर्ण ड, द्राविड़ी के ऴ का प्रतिनिधित्व कर सकता है—उदाहरणार्थ-तेलुगू-पोंगडु 'प्रशंसा करना' तथा सुडि 'भ्रमण करना'-कन्नड़-पोगऴ तथा सुळि, तामिल-पुगऴ तथा चुळि-कन्नड़-बिसुडु 'फेंकना (जो बिसुऴ भी प्रतीत होता है)। इसके अतिरिक्त तेलुगू के कलि शब्द में ऴ का स्थान ल ने ले लिया है जब कि कन्नड़ में इसका रूप कऴि है। उससे संस्कृत की बुल् धातु में ल् की स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

इस प्रकार संस्कृत की छः क्रियायें-ब्रुड्, व्रुड्, भ्रुड्, बुल्, बुड् तथा मुण्ड्—द्राविड़ी भाषा की मुऴ धातु से गृहीत हैं। संस्कृत तथा उससे सम्बन्धित अन्य भाषाओं में ऴ वर्ण न होने के कारण यह ड् तथा ल् (ळ) से प्रकट किया जाता है।

संस्कृत में अन्त के ड् के साथ एक अन्य धातु हुड् (डूबना) है। यह द्राविड़ी की हूऴ, पूऴ (तेलुगू), पूडु [डूबना] का स्मरण दिलाती है।

संस्कृत की व्रुड् तथा भ्रुड् "सम्भृतौ" (ढकना अथवा लपेटना) शुद्ध द्राविड़ी हूऴ, पूऴ, पूडु (लपेटना, ढकना, गाड़ना) का स्मरण दिलाती हैं तथा संस्कृत की ब्रुड्, भ्रुड्, हुड्, तथा हुण्ड् 'संहतौ', 'संघाते' (ढेर करना, इकट्ठा करना, मिलाना) शुद्ध द्राविड़ी के हुडु, पूडु [एक साथ रखना, मिलाना] का स्मरण दिलाती हैं।

---

*वैदिक संस्कृत में द्राविड़ी अंश

यद्यपि ऋग्वेद की भाषा—रूप, रचना तथा भाव में-शुद्ध आर्य अथवा भारोपीय परिवार की है, किन्तु उसने बहुत से शब्द द्राविड़ी (तथा कोल) से ग्रहण किये हैं। उनमें से आर्यों के अपरिचित पदार्थों के ही नाम नहीं वरन् कुछ भावा-

*"Dr. Suniti Kumar Chatterji"—The origin and development of the Bengali Lanquage Vol I Introduction page 42

त्मक शब्द भी हैं। ऋग्वेद के कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं जो सम्भवत: द्राविड़ी उत्पत्ति के हैं:—

अणु (कण), अरणि (अग्नि के लिये काष्ठ को रगड़ना), कटु-क (तेज), कपि (वानर); कर्मार (धातु का काम करने वाला), कला (छोटा अंश, कला) काल (समय) कितब (जुआड़ी), कुट (झोपड़ी), कुणारु (शिथिल हस्तवाला), कुण्ड (छिद्र), गण (समूह), नाना (अनेक), नील (नीला), नीहार (मेघ, हिम), पुष्कर (कमल), पुष्प (सुमन), पूजन (पूजा), फल (फल), बिल (छिद्र), बीज (बीज), मयूर (मोर), रात्रि (निशा), (?), रूप (आकृति), सायं (संध्या), वल्गु (सुन्दर)।

अटवी (वन), अलर्क (एक प्रकार का पुष्प) आडम्बर (ढोल, मृदंग), कम्बल (कम्बल), कुलाल (कुम्हार), खड्ग (गेंडा) तण्डुल (चावल) तिल (तिल) फण (झागफेन) मटची (?) (टिड्डी) मर्क–ट (बानर, लंगूर), वलक्ष बलक्ष (श्वेत) बल्ली (लता) (?) व्रीहि (धान), शव (लाश)।

ये अधिकतर पदार्थों के नाम हैं और जब आर्य भाषा पूर्ण रूप से शक्ति में आ जाती है तो भावात्मक शब्दों का ग्रहण न्यून तथा कम हो जाता है किन्तु प्राचीन देशी भाषाओं तथा संस्कृत में साकार पदार्थों के नामों का अधिक संख्या में ग्रहण होता है।

प्राकृत में द्राविड़ी अंश

हेमचन्द्र ने अपनी 'देशी नाम माला' में बहुत से देशी शब्दों का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ द्राविड़ी भाषाओं से समानता रखते हैं (देशी शब्दों का अर्थ उन शब्दों से है जो बहुत समय से प्राकृत में प्रयुक्त होते आये हैं)। के० अमृत रों* ने ऐसे शब्दों की सूची तैयार की है जो नीचे दी जाती है। द्राबिड़ी अंश का निश्चय करने में उन्होंने डा० किटेल तथा डा० काल्डवेल के सिद्धान्तों का ही अनुगमन किया है:—

*K. Amrita Row—,Thc Dravidian Element in Prakrit'—(Indian Antiquary Vol. 46 P. 33)

सम्बन्ध सूचक संज्ञायें

प्राकृत भाषाओं द्वारा गृहीत सात सम्बन्ध सूचक संज्ञाओं में से पाँच स्पष्ट रूप से द्राविड़ी हैं :

१—प्राकृत-अप्पो (पिता) लगभग सभी द्राविड़ी बोलियों में पाया जाता है।

२—प्राकृत-अम्मा, अव्वा (मां) अम्म शब्द तुळु के अतिरिक्त समस्त द्राविड़ी बोलियों में प्राप्त होता है। कनाड़ी में अव्व, अव्वे का अर्थ माता अथवा दादी है। तेलुगू में अव्व का अर्थ 'दादी' है।

३—प्राकृत-अक्का (भगिनी) संस्कृत में (माँ)—द्राविड़ी बोलियों में प्राकृत की भांति अक्क का अर्थ भगिनी है।

४—प्राकृत—अत्ता (बुआ) द्राविड़ी अत्त (बुआ)

५—प्राकृत—मामी (सास) द्राविड़ी मामि (सास)

६—प्राकृत—भावो (जीजा— बड़ी बहिन का पति) कनाड़ी भाव , सं० भाम

७—बहुणी (भाभी) यह सम्भवत: संस्कृत रूप वधुनी से गृहीत है, तुलना के लिए तेलुगू वदिने (इ के उ में परिवर्तित होने के लिए—तामिल--मशिर बाल, प्राकृत मासुरी)।

शारीरिक अंग

१—प्राकृत—बोन्दी (रूप, मुखाकृति, शरीर कलेवर)—तामिल, तेलुगू—बोन्दि।

२—प्राकृत—पोत्तम (पेट, उदर) तेलुगू—पोत्त कनाड़ी पोत्ते।

३—प्राकृत—खड्डम (दाढ़ी) तेलुगू—गड्डम कनाड़ी—गड्ड, तामिल—कट्टै।

४—प्राकृत—मासुरी (दाढ़ी] तामिल—मशिर [इ के उ में परिवर्तित होने के लिये तेलुगू—वदिने, प्रा० वहुणी।

५—प्राकृत—पुरुढो (गड्ढा, कमर के सिरे] तामिल—पुरुडै [योनि]।

६—प्राकृत—मडो [गर्दन] तेलुगू—मेड [ए के अ में परिवर्तित होने के लिये तेलुगू—रेड्डि, प्राकृत—रद्धी]।

७—प्राकृत—कन्दल [कपोल] कनाड़ी, तेलुगू, तामिल—कन्न [डा० किटेल कन्नड़ अंग्रेजी शब्दकोष भूमिका पृष्ठ २७]।

व्यक्तिवाचक संज्ञायें

१—प्राकृत—रद्धी [मुखिया, अथवा अध्यक्ष] कनाड़ी तेलुगू—रेड्डि—[कृषको की उपाधि]।

२—सेट्टी [संस्कृत–श्रेष्ठिन, गाँव का प्रमुख] कनाड़ी तेलुगू–चेट्टि, तुळु सेट्टि।

३—प्राकृत–तलारो [गाँव का चौकीदार] तामिल–तलेयारि, तेलुगू–तलारि, कनाडी-तलेयारि।

४—प्राकृत–पोत्रो [बालक] संस्कृत पोत 'पशु का बच्चा' कनाडी–पोतु [बकरा] तेलुगू–पोतु [जानवर का बच्चा]।

५—प्राकृत–पडिअज्झ [पडिअज्झ]–पडि के लिये तेलुगू बडि [पाठशाला] [ब के प में परिवर्तित होने के लिये तेलुगू–बल्लि, संस्कृत–पल्लि [छिपकली]।

६—प्राकृत–पडुजुबई [युवती] तेलुगू–पडुसु [युवती], [च के ज में परिवर्तित होने के लिये संस्कृत–पिशाची, प्राकृत–पिसाजी।]

७—सूला (गणिका), कनाड़ी-सूळे।

८—प्राकृत–इल्लो, एल्लो [निर्धन व्यक्ति] तामिल–इल्लान 'निर्धन व्यक्ति' तामिल–इल्लै, कनाड़ी–इल्ल [वहाँ नहीं है]।

९—प्राकृत—कुरुलो [घुँघराले बाल वाला व्यक्ति तेलुगू–कुरुलु, कनाड़ी–कुरुळ, तामिल–सुरुळ [घुमाना घुँघराले बाल।]

१०—कुरुडो [प्राकृत] [निर्दयी] 'चतुर व्यक्ति' तामिल–कुरुडन, कनाड़ी–कुरुड (अंधा व्यक्ति)।

११—प्राकृत–मड्डो [आलसी व्यक्ति] कनाड़ी, तेलुगू–मड्डि [मूर्ख, बुद्धू, बद-सूरत]।

पशुओं के नाम

१—प्राकृत–पुल्ली [चीता] द्राविड़ी–[पुलि]।

२—प्राकृत–पावो [सर्प] कनाड़ी–पावु तेलुगू–पामु, तामिल–पाम्बु।

३—प्राकृत–करडो (चीता), तामिल, कनाड़ी–करडि (भालू)

४—प्राकृत–मन्गुसो, मुग्गसो [एक प्रकार का नेवला] तेलुगू–मुन्गिस, कनाड़ी मुन्गिसि।

५—प्राकृत–कीर [तोता] कनाड़ी किड़ु [चिल्लाना], द्राविड़ी–किळि।

६—प्राकृत–किरह, किडी [सुअर] द्राविड़ी किडु [खरोंचना]।

विविध

१—चिची [अग्नि] तेलुगू–चिच्चु, कनाड़ी-किच्चु।

२—प्राकृत रोसरो [सूर्य] कनाड़ी–नेसरु, तामिल–आयिर।

३—प्राकृत–झड़ी [बर्षा की झड़ी] तेलुजू–जडि, कनाड़ी–जडि।

४—प्राकृत–अद्दाओ [दर्पण] तेलुगू–अद्दमु ।

५—प्रा० पसिरिड–[सोना] तेलुगू–पसिडि ।

६—प्रा–वैरम [हीरक] तामिल–वैरम ।

७—प्रा०—पेन्डम [नुपूर] तेलुगू–पेरडरमु [पायल] ।

८—प्रा०–चाण, चाणी [गोबर] तामिल–शाणि ।

९ प्रा०–ऊरो [ग्राम] तेलुगू–ऊरु, तामिल–ऊर ।

१०—प्रा०–माडिअम [गृह] तामिल–माडम ।

११—प्रा०–उम्मरो [ड्योढ़ी] तामिल–उम्मारपंडि ।

१२—प्रा०–कस्सो, कच्छारो [पंक, कीचड़] तेलुगू–कसवु, कनाड़ी–कस, कसवु, कसर, कूड़ा] ।

१३—प्रा०–फेण्डुअ [गेंद] कनाड़ी–चन्डु ।

१४—प्रा०–मोग्गर [कली] तेलुगू–मोगड [कली] कनाडी–मोग्गे, मोग्गु [कली] तामिल–मोग्गु ।

१५—प्राकृत–उ-इड [काला चना] तामिल–उळुन्डु, कनाड़ी–उद्दु ।

१६—प्रा०–कल्ल [ताड़ी] तेलुगू–कळ्ळु, कनाड़ी कळ्ळु, तामिल–कळ ।

१७—प्रा०–कारम [तीक्ष्ण] द्राविड़ी–कार ।

१८—प्रा०–मुद्दी [चुम्बन] दाविड़ी–मुद्दु ।

१९—प्रा०–अट्टई [उबाल] द्राविड़ी–अड [पकाना] ।

२०—प्रा०घुट्टई [घूँट] तेलुगू–गुत्तु [कु] ब्राहुई–गुट [गला] ।

२१—प्रा०रम्पइ, रम्फइ [कटे हुये के चिन्ह] तेलुगू–रम्पमु [आरा] ।

२२—प्रा०–कावी [नीला रंग] द्राविड़ी–कावि [रामरज] ।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये विभिन्न शब्द किन किन कालों में ग्रहण किये गये, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि किसी समय आर्यों तथा द्रविड़ों में घनिष्ठ सम्पर्क था, जैसा कि उपर्युक्त शब्दों से प्रकट है ।

तृतीय भाग

अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में आर्येतरांश

हिन्दी भाषा में आर्येतरांश

ग्राउज़ (Growse) नामक विद्वान ने अपने एक लेख में यह कहा है कि हिन्दी शब्दावली में संस्कृत से असम्बद्ध शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। उन्होंने इस कथन की पुष्टि के लिये, उन हिन्दी के २६ शब्दों में से, जिनका कि म्योर (Muir) के कथनानुसार संस्कृत के शब्दों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, ५ की व्युत्पत्ति संस्कृत के ही आधार पर की है। इसके अतिरिक्त बाकी शब्दों में निम्नलिखित ५ की उत्पत्ति, के० अमृत रो ने द्राविड़ी भाषाओं से बतलाई है:—

१—झगड़ा

२—आटा

३—घूंटना

४—खूंटा

५—सीप

झगड़ा

प्लैट्स (Platts) ने अपने हिन्दुस्तानी शब्दकोष में इस शब्द की कोई भी व्युत्पत्ति नहीं बतलाई है। के० अमृत रो के मतानुसार झगड़ा शब्द की व्युत्पत्ति, कनाड़ी के जग्गळ, तेलुगू के (ड) जगडमु (झगड़ा) के आधार पर हो सकती है। डा० किटेल ने कनाड़ी के जग्गळ को शुद्ध द्राविड़ी का शब्द माना है। तेलुगू के कोषकारों ने (ड्) जगडमु शब्द को देशी शब्द माना है।

आटा

आटा शब्द की व्युत्पत्ति प्राकृत के अट्ट (उबालना) से हो सकती है। प्राकृत के अट्ट का सम्बन्ध कनाडी के अटडु, अडु (पकाना), तुळु के अट्टिल (पकाने की क्रिया), तेलुगू-अट्टु [चपटी पतली रोटी] से हो सकता है।

घूँटना

इस शब्द की व्युत्पत्ति प्राकृत के घुट्ट [संस्कृत पा-पीना] से हो सकती है, जिसकी उत्पत्ति कनाड़ी और तेलुगू के गुटकु [घूँट] से खोजी जा सकती है।

खूँटा

प्लैट्स का कथन है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति कदाचित खुट्ट शब्द से निम्न प्रकार से हो सकती है:

खूटना=खूट अथवा खोट=प्राकृत खुट्ट [इ]=संस्कृत—क्षोत्य [ते], क्षोट् धातु [चुनना, तोड़ना] के कर्म वाच्य का रूप [कर्तृ वाच्य में प्रयुक्त]—प्लैट्स हिन्दुस्तानी शब्द-कोष।

किन्तु 'रो' के विचार से यह शब्द तामिल, मलयालम, तुळु के कुट्टि (खूंटा) शब्द से ग्रहीत है। इस प्रकार से हम निम्न शब्दों की समानता को प्राप्त करते हैं: कुट्टि, खूँटा, गुट, घूँट।

सीप

यह शब्द स्पष्ट रूप से प्राकृत के सिप्पी से ग्रहीत है, जिसकी उत्पत्ति कनाड़ी के चिप्पु, सिप्पु, तामिल शिप्पि शब्दों से खोजी जा सकती है।

इस सम्बन्ध में हिन्दी, तथा गुजराती के एड़ी प्राकृत के एड, शब्दों पर भी ध्यान देना आवश्यक हैं। इन शब्दों की व्युत्पत्ति तामिल, मलयालम, कनाड़ी के अडि [पैर] तेलुगू के अडुगु से हो सकती है।

इन शब्दों के अतिरिक्त और भी बहुत से शब्द हिन्दी भाषा में आर्येतर उत्पत्ति के मिलेंगे जिनमें से कुछ का उल्लेख विविध शब्द सूची में मिलेगा।

बंगाल के स्थान—नामों में आर्येतरांश

बंगाल के स्थान—नामों में आर्येतरांश की समस्या भाषाविज्ञान, जन-विज्ञान तथा इतिहास के दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। हमें इस बात का पता नहीं है कि आर्य सभ्यता के विस्तार के पूर्व बंगाल के विभिन्न भागों में कौन सी भाषा प्रचलित थी, किन्तु यह कहा जा सकता है कि इन भूभागों के प्रागार्य राढ़, सुह्म, वंग तथा पुंड्र— निश्चित रूप से भाषावैज्ञानिक तथा जातीय विचारों में बंगाल के पश्चिमी

सीमान्त के द्राविड़ों तथा कोलों और उत्तरी तथा पूर्वी सीमान्तों की बोड़ो और मोन-ख्मेर (खासियों से सम्बन्धित) ज्ञातियों से प्रभावित थे। (समय के अनुसार, यह साधारणतया विचार किया जाता है कि बंगाल में सर्वप्रथम आग्नेय जाति के व्यक्ति आकर बस गये) उनके पश्चात् द्रविड़ आये, जो देश के भिन्न भिन्न भागों में, विशेषत: पश्चिमी और दक्षिणी बंगाल में फैल गये। उनका अनुगमन आर्यों ने किया। चीन—किरात वंश के किरात स्कन्ध वाले व्यक्ति, इस क्षेत्र में बाद को आये और बंगाल के पूर्व तथा उत्तर में बस गये।

छठी शताब्दी के प्राचीन बंगला शिलालेखों में बहुत से ग्रामों, नदियों आदि के नाम हैं, जो आर्येतर आधार को सूचित करते हैं। बंगाल तथा आसाम के प्राचीन स्थानीय नामों में जोल, जोलि, जोट, जोटिका, हिट्टि, भिट्टी, बिटि, हिष्टी (हिष्ठी), गड्ड, गड्डि, पोल, वोल तथा सम्भवत: हण्ड, वडा, कुण्ड, कुण्डि, चवटी, चवाड आदि अनेक शब्द द्राविड़ी तथा कुछ दशाओं में कोल भाषाओं के कहे जा सकते हैं। आधुनिक स्थानीय नामों में से (जोला) (जोली), (जोटा) (जोटिका) में अन्त होने वाले नाम पश्चिमी बंगाल के जिलों में बहुत मिलते हैं।

द्राविड़ी के (जोल) (जोला) (जोली) "जल की धारा" में अन्त होने वाले कुछ नाम नीचे दिये जाते हैं:—

सोणाजोल	हावड़ा, माल्दह
नाडजोल	मिदनापुर
शिंजोल	जेसोर
आम्जोला	बिरभूम
लक्ष्मीजोला	मुर्शिदाबाद
पूटीजोल	मुर्शिदाबाद
काकड्डाजोल	हुगली
चामाजोल	माल्दह
गाजोल	माल्दह

[बंगाल के आधुनिक स्थान—नामों में जोली शब्द जुलि के रूप में मिलता है]

खाड्-जुलि	बर्दवान
तल्जुलि	मिदनापुर
काइजुलि	बिरभूम
सोणाजुलि	बर्दवान

द्राविड़ी के (जोट) तथा जोटिका शब्द बंगाल के आधुनिक स्थान नामों में (जोड़), (जोडा) अथवा (जुडा), (जुडि) तथा (जुडिया) के रूप में मिलते हैं। ये नाम बंगाल के लगभग प्रत्येक जिले में बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं:—

दापनाजोड	मैमनसिंह
क्योड़जड	मैमनसिंह
हाइलजोड	ढाका
बाटाजोड	बारीसाल
शिंजोड	खुलना
मूलाजोड	२४ परगने
शाल्जोड	हावड़ा, बिरभूम
हेताल्जोड	मिदनापुर
बाकल्जोडा	मैमनसिंह
आंगारजोडा	ढाका
आम्लाजोडा	बर्दवान
भुर्जोडा	बिरभूम
बानाजोडा	बारीसाल
दुब्लाजुडि	जेसोर
फुलाइजुडि	तिपरा
बाइन्जुडि	चिटगाँव
कुकराजुडि	मिदनापुर
डाम्जुडि	बाँकुरा
नेकडाजुडिया	बर्दवान
गड़जुडिया	बांकुरा

(झोर), (झोरा) प्रत्ययों की तुलना कन्नड़ के जोरु 'टपकना, बूँद' से की जा सकती है।

बुडिझोर	मिदनापुर
रवाडुझोर	बाँकुरा
मुरियाझोर	फरीदपुर
कर्णझोरा	मैमनसिंह
साकोझोरा	जालपइगुरी

सिंगिभोरा	दार्जिलिंग

पश्चिमी बंगाल के जिलों—(विशेषत: बर्दवान, मिदनापुर तथा बांकुरा) के स्थान-नामों में आने वाले (शोल) (शोला) तथा (शुलि) शब्द, जिनका अर्थ 'स्रोत, जलधारा' है, सम्भवत: द्राविड़ी उत्पत्ति के हैं। उनमें से प्रसिद्ध नाम इस प्रकार हैं:—

आसन्शोल	बर्दवान
शियार्शोल	बिरभूम
भुकिभुकिशोल	मिदनापुर
टाँगाशोल	मिदनापुर
खयराशोल	मिदनापुर
पिडारी शोल	बाँकुरा
फेगुयाशोल	बाँकुरा
काकडाशोल	मिदनापुर
चेकुयाशोल	मिदनापुर

द्राविड़ी के वडा अथवा कोल के ओडक 'घर' का (–डा) अंश बहुत प्रचलित प्रत्यय है, जो सम्पूर्ण बंगाल में पाया जाता है:—

भाटडा	मैमनसिंह
देलुडा	मैमनसिंह
काओडा	मैमनसिंह
खेकडा	ढाका
मसडा	ढाका
टाटडा	तिपरा
जाओडा	तिपरा
फाओडा	नोआखाली
बलोडा	नोआखाली
आफडा	जेसोर
मोचडा	जेसोर
मादडा	खुलना
सेवडा	खुलना
नेतडा	२४ परगने
पोम्डा	चिटगाँव

मोहडा	चिटगाँव
नाश्रोडा	बारीसाल
चटडा	बारीसाल
काफुडा	फरीदपुर
साश्रोडा	फरीदपुर
केश्रोडा	माल्दह
खान्दुडा	माल्दह
झापडा	दिनजपुर
श्राकडा	२४ परगना
सजडा	बर्दवान
उलाडा	बर्दवान
हौडा	हावड़ा
खयडा	हावड़ा
सोम्डा	हुगली
बेतडा	हुगली
रसडा	मुर्शिदाबाद
इकडा	बिरभूम
ढामडा	बिरभूम
कास्तडा	बाँकुरा
बाँकुडा	बाँकुरा

(बिर) शब्द 'वन' सन्थाली भाषा का है। यह भी बंगाल के स्थान-नामों के श्रारम्भ में श्राता है:—

बिगैंला	मैमनसिंह
बिरबरुहा	मैमनसिंह
बिरमासुका	....
बिरकुरसा	मैमनसिंह
बिरशिमुल	बर्दवान
बिरकोटा	मिदनापुर
बिरझरिया	मिदनापुर
विरबान्दी	मिदनापुर

(वाड) शब्द, जो गाँवों के नामों के श्रादि में श्राता है, सम्भवत: श्राग्नेय उत्पत्ति का है:—

बाडबाकडा	मिदनापुर
बाडजशुया	मिदनापुर
बाडबेगुनिया	मिदनापुर

इत्यादि, इत्यादि ।

(दह) तथा (दा) शब्द भी इसी प्रकार आग्नेय उत्पत्ति के हैं। मुंडा भाषा में 'दा' का अर्थ जल है:—

फुलदह	मैमनसिंह
चाकदह	मैमनसिंह, ढाका, खुलना
आदियादह	ढाका
कालियादह	ढाका
कालिदह	फरीदपुर, नोआखाली
आंगारदह	जेसोर, खुलना
मुक्तादह	जेसोर
मधुदह	जेसोर
ताम्बुलदह	चौबीस परगने
बाशदह	हावड़ा
डुमुरदह	हुगली
शियालदह	२४ परगने
निमदह	वर्दवान
हलदा	जेसोर
कोडदा	मिदनापुर
नलदा	हांवड़ा

अन्तर्प्रान्तीय नामों में पुनरावृत्ति कदाचित आग्नेय आधार के कारण है:—

दमदम	२४ परगने
बजबज	२४ परगने
बुदबुद	बर्दवान
कोलकोल	बर्दवान
शिमिशिमि	बर्दवान
दुमदुमी	बाँकुरा
झलझली	मिदनापुर
भुरभुरी	मैमनसिंह

खुनखुनी	मैमनसिंह
दुलदुली	२४ परगने
दलदली	मालदह
दगदगा	मैमनसिंह
झनझनियाँ	खुलना
भुरभुरिया	तिपरा
बलबलिया	२४ परगने

प्रत्यय 'चु' अथवा 'चो' (जल), जो स्थानीय नामों में प्राप्त होता है, तिब्बती-बर्मी उत्पत्ति का है। (यह अपूर्व बात है कि 'चो' अथवा 'चु' से अन्त होने वाले स्थान-नाम केवल तिपरा जिले में सीमित हैं)। वे स्थान-नाम इस प्रकार हैं:—

कालिया चो	तिपरा
पापाचो	,,
ठोशरिचो	,,
सानिचो	,,
नाराचो	,,
राणीचो	,,
तिरचो	,,
चुरिचो	,,
दाराचु	,,
लाडुचु	,,

इन नामों के अतिरिक्त बंगाल के अन्य कई स्थानीय नाम हैं, जो आर्येतर उत्पत्ति के प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनके विषय में कोई भी निश्चित रूप नहीं बतलाया जा सकता।

विविध शब्द

प्रथम भाग*

क्रोध, क्रुद्ध : आसामी खंग, बंगला खाखार, खखार (गाली दंड) खाखा, (क्रुद्ध होना)-ख्मेर खेन्̤, खिन्̤, ते—केञ, तें केन्ग, तें केन (अन्य आर्येतर भाषायें)

धनुष : संस्कृत पिनाक (=पिन+आक)—इग ?, आंग (सेमाँग), अक (स्तींग) आक (रिआँग) अनक (मलय) आदि।

बाँस:—बंगला, बखारी, बाखारी=फटा बांस,—मोन करेक, तरेक=फाड़ना बांटना : जैसे तुन (दुन) ˇकरेक=फटा बाँस। वाँस के लिये प्रचलित शब्द ये हैं:—

लें बुइह, लें बेह (सेमांग बोलियाँ), बुलोह (मलय) पो-ओ (सेमाँग), पू—(पूक) पौ, (पौक) (सेरौ) पों (पोक)। बंगला का बाखारी या तो पोक-करेक > बांक—करेक के संयुक्त शब्द से अथवा बाश, बश < वंश+करेक > बह (बाह) करेक से हो सकता है।

चमगादड़ : बंगला बाहुड=बद+प्रत्यय—उड--ड। तुलना के लिये–हापेट, सापेट, होम्पेट, समेत हमेत (बहनार) कवेत, कोवेत (सेमाँग), कावेद, कौइद, कवं त, गनं ट, कॅत(कसें ग), कव < कवत (मोन), नोत (स्तींग) वंत–द, वात–द, वत (अन्डमनी)।

चिड़िया (हिन्दी)=चि–ड़्–इया–चॅम, चमे (सकइ तथा सेमाँग बोलियाँ);

क—चिम (मोन), चिम (चम), (क्र) चिम (चारें), सेम (बहनार), सिम (पलौंग); सिम=कुक्कुट (सन्थाली)–चं मॄड़ (सन्थाली, महले, मुंडारी आदि)

स्तन : संस्कृत चुचुक, मलय सुसु-दूध; लकड़ी का कोयला : संस्कृत अंगार, हिंदी इंगेल—अंग्गु (सेमाँग आदि); जेन्ग-का, जेन्गकत (सकइ); न्यिग-कह; एंगोंग ओंसॅ, इंगुंग उस आदि (सेमाँग) रंगों क (ख्मेर)

कपोल (संस्कृत—कें बंग (सेमाँग आदि) कपं (सकइ); मुखाकृतिः, कपो, कपौ

---

*"Dr. Suniti Kumar Chatterji"—'Some more Austric words in Indo-Aryan' (Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India' by "Dr. P. C. Bagchi"—Introduction)

(सकइ) तपोंग्र (मध्य तथा दक्षिणी निकोबार); कपोल : थ्पिअल < थ्बाल (ख्मेर)। संस्कृत का शब्द आग्नेय उत्पत्ति का हो सकता है।—क-पोल, पोल शब्द प्रारंभिक धातु का प्रतिनिधित्व करता है। कपाल–शिर, बंगला कपाल=मस्तक पि० रिवेट के द्वारा 'सामुद्रिक' कहे गये हैं।

नारियल : संस्कृत नारिकेल-मलय नियोर (नारियल), नियोर (सकइ तथा सेमांग), फल : प्ले, फ्लेइ आदि, कोलै (तरेंग), कौंलै (कोन्टू)। नारिकेल शब्द की व्युत्पत्ति नियोर (नारियल) तथा कोलै (फल) से समानता रखने वाले शब्दों के संयोग से हो सकती है।

कपड़ा : बंगला कानि (चिथड़ा)--मलय कैन।

केकड़ा : संस्कृत कमठ, कर्कट, बंगला काठा, केंटे < काठिआ : कॅतम (मलय), खताम (मोन), केदम, क्रम (ख्मेर) कौंतम (बहनार >, तम स्तींग), कत–कोम (संथाली)

औरत : उड़िया—माइकिनिआ, उड़िया माइप। केन, क्न, किन्नह (मुन्दर स्त्री), मइ--कोंनह, भिनिअह, माबं (सेमांग आदि)।

मेढक : संस्कृत भेक—तबेक, तबेग (सकई), बुआक (मलय)।

जंघा : (संस्कृत) बंगला जाङ्—चन चोंग, जोंग, जौंग, जुक्न (सेमांग, सकइ) जोंग (मोन) जुंग (स्तींग), जोंग चोंग (ख्मेर) जन (पलौंग) जंग्ग (सन्थाली)

एड़ी : बंगला गोडालि—दुलदुल (सेमाँग), दुंओंल, क--दुओल (चम), केन्—तोंल, लह (मध्य निकोबार)। किन्तु बंगला गोड़=पैर तथा प्राकृत गोड्ड भी ध्यान देने योग्य हैं।

जोंक—संस्कृत जलूका, जलौका—जॅलों भ्लोंग (ख्मेर) ग्लु (स्तींग चौ)।

पैर : बंगला ठेंग, टेंगरी-कॅतेंग (केदह, जरूम आदि), स्कतिंग (सकेतिंग) तिन, क्तेंग क् तैग (सेलुंग) कॅतिंग (मलय)।

होठ (निचला) : बंगाल ठोट, संस्कृत तुंड–तेनुड (सेमाँग), मुँह–थ्नो (ख्मेर)।

पागल : बंगला पागल–गिल (मलय) गिला (सकइ)।

मच्छड़ : संस्कृत मशक, हिन्दुस्तानी–मच्छड़–कामेत, कामोस, कुमस (सकइ); केमित (सेनाय); गमित (मोन) मूस (ख्मेर); मोए (स्तींग) सोमेच (वहनार)।

मूँछ : बंगला–मोछ–मिसेइ, बिसइ (सकइ); मिसइ (सेमांग) मिसइ (मलय)।

पंक :प्राकृत चिक्खिल्ल, प्राचीन बंगाल चिखिल, हिन्दुस्तानी कीचड़, चित्र (सेमांग)

सरसों संस्कृत सर्षप=प्राकृत सासव (जो अस्पष्ट है)—सेसवि (मलय)

गर्दन : बंगला घाड़, मध्य बंगला घाटा-न्‌गोत, न्‌गोद (सेमांग) ग्लोह, गॅलो-(संस्कृत गल, बंगला-गला)

चूहा : संस्कृत इन्दुर, उन्दुर कान्दोर (ख्मेर), कोन (प्राचीन ख्मेर)।

चावल : संस्कृत तण्डुल; बंगला चाउल, मध्य बंगला (ताड़ुल), ताउल, चाउल चेंग्रोंग, चेंग-गोई (सकइ); चेंदरोइ (सेनोइ); स्रो (मोन) स्रौव (ख्मेर)

पेट: बंगला पेट, प्राकृत पोट्ट—ले॑पोच, लेपोत, लोपोत ले॑पु (आर्येतर)

(*द्वितीय भाग)

घंटा (संस्कृत) —गेंदंग (मलय), गेंतंग रेंतक (अन्य आर्येतर भाषायें)

संस्कृत गज - गौइ, गगो (उ-केल), गज (सेमाँग), गाजाह (तेम्बी)।

संस्कृत कपोत—'कबूतर' किन्तु पक्षी के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। पक्षी के के लिए आर्येतर शब्द कवोद, कवोत, कवौ (सेभाँग आदि) हैं।

संस्कृत काक—'कौवा' (बंगला अर्ध—तत्सम=काग, तद्भव=काउआ)—गगक (मलय) अअग (तेम्बी), गअग (सेरन), कएक (ख्मेर) आक (बहनार); अक (जरइ), खडाक (मोन) आदि।

संस्कृत हालाहल=विष:

सर्प के लिये आग्नेय शब्द ये हैं:—

हाले—(हलि), जेकोप ह्लेक, एकोब पे॑लै?

संस्कृत गुड़; शकर के लिये आग्नेय शब्द ये हैं:—

गु॑ल, गुला, गूल (दरत); ह्लो॑ (जेलै), गुल (मलय)

बंगला पगार 'जल-मार्ग',

'खन्दक'—आग्नेय शब्द पगर (संथाली आदि)। सन्थाली में पगर्‌ओ का अर्थ 'जलमार्ग बनाना है'।

इस शब्द सूची से हमें यह पता चलता है कि आग्नेय भाषाओं से इन शब्दों का ग्रहण उस समय हुआ जब ये आग्नेय भाषायें भारत के विशेषत: गंगा-सिन्धु के मैदान के अधिकांश लोगों द्वारा बोली जाती थीं। इन भाषाओं के बोलने वाले अब उत्तरी भारत की हिन्दू अथवा मुसलमान जनता में घुल मिल गये हैं।

इसके अतिरिक्त ये शब्द उन आदिम निवासियों में प्रचलित विचारधाराओं, संस्थाओं आदि पर भी प्रकाश डालते हैं जिनको आर्यों ने ग्रहण किया।

*Dr. P. C. Bagchi

परिशिष्ट

[पारिभाषिक शब्द-सूची]

जन-विज्ञान सम्बन्धी शब्द

[क]

Aborigines	आदिमनिवासी
Acheulean	ऐक्यूलियन (फ्रांस के सेंट-ऐक्यूलिस स्थान में प्राप्त पाषाण)
Alpo-Dinaric	अल्पो डिनेरिक
Anthropology	जन-विज्ञान
Blond	गोरा, भूरे बाल तथा कंजी आँख वाला व्यक्ति
Brachy-cephalic	वृत्त-कपाल
Bronze-Age	ताम्र-युग
Capacity	परिमाण
Cephalic Index	कपाल-मान
Craneal Vault	कपाल-भित्ति
Data	तथ्य
Dolicho-Cephalic	दीर्घ-कपाल
Epoch	युग
Ethnology	नृ-वंश-विज्ञान
Face	मुखाकृति
Facial Index	मुख-मान
Fossil	अश्मीभूत-पदार्थ
Index	मान
Inter-Zygmatic	अन्त: कपोलास्थि
Latitude	अक्षांश
Leptorrhine	सुनास
Macro-cephalic	ह्रस्व-कपाल
Mesati-cephalic	मध्य-कपाल
Messorrhine	मध्य-नास
Millenium	सहस्राब्दी
Mongoloid	मंगोली
Mousterean	मोस्टीरियन (फ्रांस के मोस्टियर स्थान में प्राप्त पाषाण)

Nasal Index	नासिका-मान
Nation	राष्ट्र
Neolithic Age	नवपाषाण-युग
Occiput	गुद्दी
Orbit	आँख का गड्ढा
Oriental Type	पूर्वी नस्ल
Platyrrhine	पृथु-नास
Pre-historic	प्रागैतिहासिक
Primitive	आदिम
Proto-Austroloid	मूल-आस्ट्रोलायड
Proto-Nordic	मूल-नार्डिक
Race	जाति
Religion	धर्म
Scytho-Dravidian	शकी-द्राविड़ी
Seramics	मृत्कला
Skeleton	कंकाल
Skull	कपाल
Somatic	शरीर सम्बन्धी
Stone Age	पाषाण-युग
Totemism	प्रतीकों की प्रथा
Tradition	परम्परा
Turko-Iranian	तुर्की-ईरानी
Type	नस्ल
Tribe	ज्ञाति
Zygmatic bone	कपोलास्थि

भाषा-विज्ञान सम्बन्धी शब्द

Absorption	आत्मीकरण
Agglutinative	अश्लिष्ट
Analysis	विश्लेषण
Aorist	सामान्यभूत
Aspirated	महाप्राण

Assimilation	समीकरण
Austric	आग्नेय
Austro-Asiatic	आग्नेयदेशी
Austronesian	आग्नेयद्वीपी
Cerebral	मूर्धन्य
Conjugation	धातु प्रक्रिया
Dardic	दरदी
Dental	दन्त्य
Dialect	बोली
Desiderative	सनन्त
Dissyllabic	द्व्यक्षर
Epigraph	शिलालेख
Etymology	व्युत्पत्ति
Exception	अपवाद
Genitive	षष्ठी
Guttural	कंठ्य
Gerund	सकर्मक्रियात्मक संज्ञा
Imperfect	अनद्यतनभूत
Indicative	सामान्यवृत्ति
Indonesian	सुवर्णद्वीपी अथवा मलायुद्वीपी
Imperative	आज्ञासूचक
Infinitive	तुमन्त
Inflexional	श्लिष्ट
Initial	आदि वर्ण
Intensity	समभिहार
Intermediary	माध्यम
Infix	अन्तः प्रत्यय
Isolating	अयोगात्मक
Labial	ओष्ठ्य
Linguistic	भाषाविज्ञान-सम्बन्धी
Linguistics	भाषा-विज्ञान

Malanesian	पपूवा-द्वीपी
Monosyllabic	एकाक्षर
Mood	वृत्ति
Morphology	पदरचना
Nasal	अनुनासिक
Nasalisation	अनुनासिकत्व
Nicobarese	नक्कवारी
Optative	इच्छासूचक
Participle	कृदन्त
Particle	अव्यय
Palatal	तालव्य
Phonology	ध्वनिजात
Phonetic	ध्वनि सम्बन्धी
Phonetics	ध्वनि-विज्ञान
Pitch	सुर
Polynesian	सागरद्वीपी
Polysyllabic	अनेकाक्षर
Prefix	उपसर्ग
Post-po sition	परसर्ग
Pronominalised	सर्वनामाख्यातिक
Script	लिपि
Series	श्रेणी
Sibilant	ऊष्म
Semitic	सामी
Sonant	सघोष
Stop	स्पर्श
Stress (accent)	स्वराघात, बलाघात
Suffix	प्रत्यय
Subjunctive	संशयार्थ सूचक
Surd	अघोष
Syllable	अक्षर

Syntax	वाक्य-विन्यास
Technical term	पारिभाषिक शब्द
Tense	काल
Tibeto-Burman	तिब्बती-बर्मी अथवा किरात स्कन्ध
Tibeto-Chinese	तिब्बती-चीनी या चीन किरात
Tibeto-Himalayan	तिब्बती-हिमालयी
Transition	सन्धिकाल
Unaspirated	अल्पप्राण
Vocabulary	शब्दावली
Vocalic	स्वरभक्ति

ग्रन्थ-निर्देश

1 Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India by Sylvain Levi- etc. (English translation by P. C. Bagchi)

2 'L' Inde Classique by Louis Renou and Jean Filliozat— (1949)—Les Races

3 Influence of Portuguese Vocables in Asiatic Languages by Rodolfo Dalgado (English translation by Anthony Xavier Soares—The Author's Introduction)

4 The Origin and Development of the Bengali Language— Vol. I by Dr. Suniti Kumar Chatterji—Introduction

5 B. C. Law Volume—edited by Bhandarkar and others— Buddhist Survivals in Bengal—Dr. S. K. Chatterji.

6 The Cultural Heritage of India —Vol. III—Hindu Culture and Greater India—Dr. Suniti Kumar Chatterji.

7 आर्य संस्कृति के मूलाधार—आचार्य बलदेव उपाध्याय

8 सामान्य भाषा विज्ञान—डा० बाबू राम सक्सेना

9 भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जयचन्द्र विद्यालंकार

JOURNALS

10 Journal of Royal Asiatic Society—1931—pp. 613—22 Varuna, God of the sea and the sky by Jean Przyluski

11 Indian Historical Quarterly, Vol. VI—1930 (pp. 145-49) —Pre-Dravidian or Proto-Dravidian by Jean Przyluski

12 Indian Historical Quarterly Vol. 10, Sep. 1934 —The Great Goddess in India and Iran by J. Przyluski

13 Indian Historical Quarterly Vol. 7—1931 (pp. 735—37) —On the origin of the Aryan word Istaka by J. Przyluski

14 Indian Historical Quarterly Vol. 8, 1932 p. 376 — Istaka and Istya by T. K, Joseph

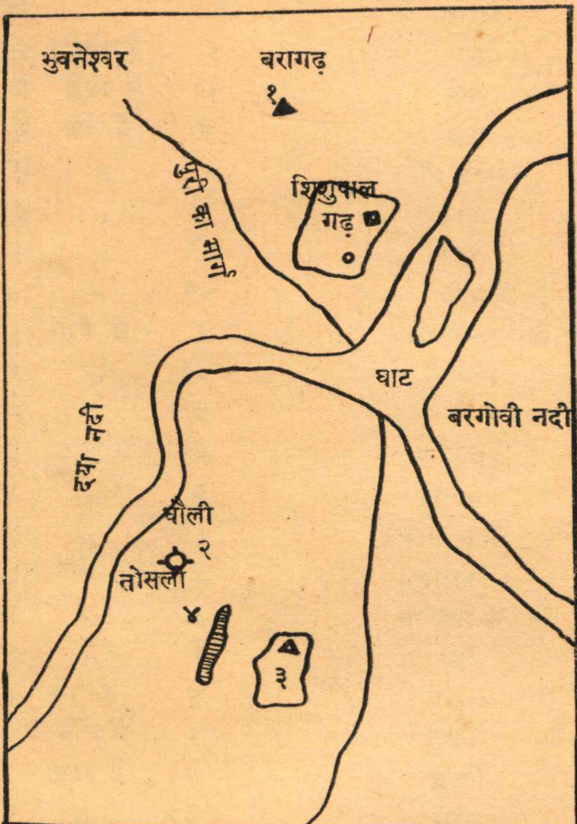
15 Indian Historical Quarterly Vol. 15, —1939 (pp. 137- 143

—Non-Aryan Elements in the place-names of Bengal—by Krishnapada Goswami
16 Indian Historical Quarterly Vol. 10 (1934) —Pre-Aryan Elements in Indian Culture by Atul Krishna Sur
17 Indian Antiquary Vol. 43—Ethnic Origin of Tamralipti by K. P. Jayaswal
18 Indian Antiquary, Vol.45,
—A note on the Non-Aryan Element in Hindi Speech by K. Amrita Row
19 Indian Antiquary, Vol. 46
—The Dravidian Element in Prakrit—K. Amrita Row
20 Indian Antiquary, Vol 56
—The meaning and etymology of Puja—Jarl Charpentier
21 Indian Antiquary, Vol. 57,
—Meaning and Etymology of Puja—by Chintaharan Chakravarti
22 Indian Antiquary, Vol. 22,
—Frog-worship amongst the Newars, with a note on the Etymology of the word 'Nepal' by A. L. Waddell
23 Indian Antiquary, Vol. 24,
—On some Sanskrit Verbs—F. Kittel
24 Journal of Bihar and Orissa Research Society Vol.9 (1923)
—The Law of Loan in Languages by Jainath Pati
25 The Calcutta Review—Feb. 1949—
—'In the Field of Historical Research'—address delivered by Dr. Dinesh Chandra Sircar as Sectional President, Indian History Congress, held in Dec. 1948.

DICTIONARIES

26 The Twentieth Century English-Hindi Dictionary by Sukh Sampatti Rai Bhandari,
etc. etc.

धौली का चित्र



२०°१०' उत्तर

१—स्तम्भ (अशोक का ?) ३—कौशुल्ला गांग

२—अशोक का शिलालेख ४—बाँध

["डा० पी० सी० बागची"—'प्रि-आर्यन ऐन्ड प्रि-डैविडियन इन इंडिया'—पृष्ठ १७८]

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	ऊपर से	१	द्यम	धर्म
३	ऊपर से	११	रुप	रूप
७	नीचे से	२	दीघ	दीर्घ
११	,,	५	सीमि तरहती	सीमित रहती
१३	,,	१६	प्राकृ.ति	प्राकृत
,,	,,	२०	एकु	एळु
,,	,,	२४	बसंगली	बसँगली
,,	नीचे से	६	को हिन्दुस्तानी	कोहिस्तानी
१५	,,	१०	ग्रिथर्सन	ग्रियर्सन
१८	,,	८	संस्कृति की अपेक्षा	संस्कृत की अपेक्षा
१६	ऊपर से	१३	(ग > ग्)	(ग् > ग्)
२५	,,	६	आदिय	आदिम
,,	,,	१०	[कोल्ला नाम]	[कोल्लानाम्]
,,	नीचे से	५	[ओरावें]	[ओरावँ]
२६	,,	५	बोलियाँ के	बोलियों के
५२	,,	१	'छ'	'पूँछ'
५७	कोष्ठक	२	ब।	बञ
६०	नीचे से	१	तथ	तथा
६६	ऊपर से	२	'धैली'	'धौली'
,,	,,	२०	सुरम	सुरभ
७२	,,	८	पुनस्तोमेनं	पुनस्तोमेन
७६	,,	२	लीखित	लिखित
७७	,,	५	हल	हम
८४	,,	३	तम	मत
८८	नीचे से	५	सो	हो
६४	ऊपर से	११	(झागफेन)	(झाग, फेन)
६५	नीचे से	५	कत्र	कन्न
६६	,,	१	तेलुजू	तेलुगू
६७	,,	४	द्राविढ़ी	द्राविड़ी
६८	ऊपर से	४	कधन	कथन

लेखक के आगामी प्रकाशन

१—समालोचक क्षेमेन्द्र

२—भारतीय संस्कृति का इतिहास

३—संस्कृत साहित्य का इतिहास
[डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित के संयुक्त लेखन में]

४—भारतीय युद्ध-कला

५—भारतवर्ष का प्राचीन भूगोल

मूल्यः—ढाई। रुपये

मुद्रक : अजय कुमार, जनसाहित्य प्रेस, ५ शाहनजफ रोड, लखनऊ।